मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 91 ● वर्ष 10, अंक 10 ● दिसम्बर 2020 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

लगातार चौड़ी होती असमानता की खाई 7

नव-नरोदवादी कम्युनिस्टों और क़ौमवादी "मार्क्सवादियों" के लिए फ़्रेडरिक एंगेल्स के सबक़ 11

विकृत विकास का क़हर : फेफड़ों में घुलता ज़हर 13

एक दिन की हड़ताल जैसे अनुष्ठानों से फ़ासिस्टों का कुछ नहीं बिगड़ेगा

मेहनतकश अवाम की दुश्मन इस सरकार के ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग को एकजुट और आक्रामक प्रतिरोध के लिए तैयार करना होगा!

सम्पादक की ओर से

गहरे आर्थिक संकट की चपेट में भारतीय अर्थव्यवस्था पहले से ही थी। मोदी की विनाशकारी आर्थिक नीतियों ने इसे और ख़स्ताहाल बना दिया और सरकार चलाने की बुर्जुआ योग्यता रखने वाले लोगों के इस सरकार में नितान्त अभाव के चलते अर्थतंत्र का कुप्रबन्धन चरम पर जा पहुँचा है। अडाणी और अम्बानी जैसे कुछ घराने मोदी सरकार से मनमाने फ़ैसले करवाकर इस संकट में भी मुनाफ़ा पीट रहे हैं मगर पूरा पूँजीपति वर्ग मुनाफ़े की गिरती दर के संकट से त्रस्त है और किसी भी तरह से मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए हाथ-पाँव मार रहा है। आर्थिक क्षेत्र में मोदी सरकार की तमाम नाकामियों के बावजूद पूँजीपति अगर अब भी उसके पीछे खड़े हुए हैं, तो उसकी वजह यही है कि देश की जनता की मेहनत और प्राकृतिक संसाधनों की लूट-खसोट की जैसी अन्धी छूट एक फ़ासिस्ट सत्ता उन्हें दे सकती है वैसी कोई दूसरी बुर्जुआ ताक़त नहीं दे सकती। इसके अलावा, जनता को झूठे मुद्दों में उलझाने और बाँटने का काम जितनी कुशलता और निर्लज्जता के साथ ये फ़ासिस्ट कर सकते हैं, वैसे कोई और नहीं कर सकता।

मुनाफ़े के लिए छटपटाते पूँजीपति चारों ओर मुँह बाये दौड़ रहे हैं। जहाँ भी उन्हें मुनाफ़ा बटोरने के अवसर दिख रहे हैं, अपनी पालतू मोदी सरकार के सहारे वे उसे भकोस जाना चाहते हैं। चाहे एक के बाद एक सार्वजनिक उपक्रमों को थैलीशाहों के हवाले करना हो या पर्यावरण और लाखों-लाख आबादी को संकट में डालकर जल-जंगल-ज़मीन को कॉरपोरेट लालच के लिए बलि चढ़ाना हो, मोदी सरकार अपने आक़ाओं को ख़ुश करने में कोई कसर नहीं छोड़ रही है। नये कृषि क़ानून भी इसी मुहिम का हिस्सा हैं। बताने की ज़रूरत नहीं कि देश के शासक पूँजीपति वर्ग का बड़ा और ताक़तवर हिस्सा औद्योगिक और वित्तीय पूँजीपतियों का है और कृषि क्षेत्र का पूँजीपति वर्ग सत्ता में भागीदार होते हुए भी ताक़त में उनसे बहुत पीछे है। पूँजीवाद में कृषि का उद्योग से पिछड़ना लाज़िमी ही होता है।

औद्योगिक पूँजीपति अपना मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य जैसे क्षेत्रों पर पहले ही क़ब्ज़ा कर चुके हैं, अब खेती पर भी उनकी नज़रें लगी हैं। ज़ाहिर है, कृषि क्षेत्र के पूँजीपति इसे स्वीकार करने वाले नहीं हैं। हमने इन कृषि क़ानूनों और इनके विरुद्ध हो रहे किसान आन्दोलन तथा उसकी माँगों के वर्ग चरित्र के बारे में और इनके प्रति मज़दूर वर्ग के नज़रिये के बारे में 'मज़दूर बिगुल' के पिछले अंक में विस्तार से लिखा था। आगे भी हम इसके सभी पहलुओं पर लिखेंगे। इस अंक के प्रेस में जाने तक किसान संगठन दिल्ली को घेरकर बैठे हैं और सरकार से उनकी पहली वार्ता बेनतीजा रही है। आने वाले दिनों में ज़्यादा उम्मीद इस बात की है कि न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) को लेकर सरकार के साथ उनकी कोई सहमति बन जाये और आवश्यक वस्तु अधिनियम जैसे बाक़ी मुद्दों को ठण्डे बस्ते में डालकर आन्दोलन ख़त्म हो जाये। कई किसान नेता इस आशय के बयान दे चुके हैं कि उनके लिए असली मुद्दा एमएसपी का ही है। एमएसपी का सवाल मुट्ठीभर फ़ार्मरों, धनी किसानों और कुलकों को छोड़कर ग़रीब किसानों की भारी आबादी और बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी के हितों से कैसे मेल नहीं खाता है, इस पर हमारी राय आप विस्तार से 'मज़दूर बिगुल' के फ़ेसबुक पेज और वेबसाइट पर पढ़ सकते हैं।

किसान आन्दोलन के दमन के लिए तमाम हथकण्डे अपनाकर मोदी सरकार ने यह भी साफ़ कर दिया है कि अपने कॉरपोरेट मालिकों की सेवा के लिए वह कुछ भी करने को तैयार है। धनी किसानों और फ़ार्मरों की अगुवाई वाले किसान संगठनों के पीछे भीड़ जुटने का कारण यह है कि पूँजीवादी संकट का असर खेती पर भी है और छोटे-मँझोले किसानों की हालत ख़राब

(पेज 9 पर जारी)

"लव जिहाद" का झूठ संघ परिवार के दुष्प्रचार का हथियार है!

ध्वस्त अर्थव्यवस्था, लूट की खुली छूट, बढ़ती बेरोज़गारी, महँगाई और महामारी जैसे मुद्दों से ध्यान भटकाने की एक और साज़िश

– अरविन्द

देश के पाँच राज्यों में तथाकथित लव जिहाद के विरोध के नाम पर क़ानून बनाने के ऐलान हो चुके हैं। जिन पाँच राज्यों में "लव जिहाद" के नाम पर क़ानून बनाने को लेकर देश की सियासत गरमायी हुई है वे हैं: उत्तरप्रदेश, हरियाणा, मध्यप्रदेश, असम और कर्नाटक। कहने की ज़रूरत नहीं है कि उपरोक्त पाँचों राज्यों में भारतीय जनता पार्टी की ख़ुद की या इसके गठबन्धन से बनी सरकारें क़ायम हैं। उत्तरप्रदेश की योगी सरकार तो नया क़ानून ला भी चुकी है लेकिन इसने बड़े ही शातिराना ढंग से इसका नाम 'उत्तर प्रदेश विधि विरुद्ध धर्म संपरिवर्तन प्रतिषेध क़ानून - 2020' रखा है जिसमें लव जिहाद शब्द का कोई ज़िक्र तक नहीं है। बाक़ी राज्य भी ऐसे क़ानून लाने के लिए क़दम आगे बढ़ाने वाले हैं। धोखा देकर विवाह करने, बलात्कार और ज़बरन धर्म परिवर्तन जैसे जिन अपराधों की बात करके नये क़ानून लाने की बात की जा रही है उन अपराधों के ख़िलाफ़ पहले से ही पर्याप्त क़ानूनी प्रावधान मौजूद हैं। असल में भाजपाई शासन-सत्ता की मंशा कुछ और ही है। वैसे यह सवाल उठाना भी लाज़िमी है कि स्त्री-विरोधी सड़ी हुई सोच के वाहक और स्त्री-विरोधी अपराधियों को प्रश्रय देने वाले कब से स्त्रियों के मुक्तिदाता हो गये हैं!? फ़ासीवादी दुष्प्रचार किस तरह से किसी झूठ को हज़ार बार बोलकर सच में बदलता है "लव जिहाद" प्रकरण इसका सटीक उदाहरण है। इसी विषय में संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार को लेकर सुप्रीम कोर्ट, इलाहाबाद हाईकोर्ट और अब दिल्ली हाईकोर्ट के फ़ैसलों और टिप्पणियों को भी सत्ताधारी फ़ासिस्ट कुछ भी नहीं समझ रहे हैं। तबलीगी जमात के ख़िलाफ़ कुत्साप्रचार और इसके अनुयायियों के दमन से लेकर डॉ. कफ़ील ख़ान तक के मामलों में न्याय व्यवस्था की तन्द्रा तब टूटी थी जब पानी सिर के काफ़ी ऊपर से गुज़र चुका था। जेलों में बन्द बहुत से निर्दोष जनवादी अधिकार कर्मियों से जुड़े मामलों में तो न्यायपालिका अभी भी कुम्भकर्ण की नींद सो रही है। "लव जिहाद" पर क़ानून के प्रकरण में भी यही हुआ है और हो रहा है। होना तो यह चाहिए कि न्यायपालिका झूठ के नाम पर नफ़रत फैलाने वालों का स्वतः संज्ञान ले चाहे वे सरकारों के मुखिया ही क्यों न हों, उन्हें तय सज़ा दे। लेकिन एक प्रक्रिया के तहत न्यायपालिका को जिस क़दर पंगु कर दिया गया है वह हमारे सामने है।

(पेज 8 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

काकोरी केस के अमर शहीदों
(शहादत दिवस - 17 व 19 दिसम्बर)

रामप्रसाद बिस्मिल

अशफ़ाक़ुल्ला ख़ाँ

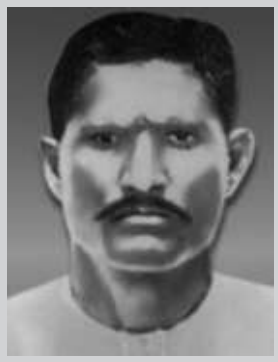
रोशन सिंह

राजेन्द्र लाहिड़ी

की याद में
अवामी एकजुटता क़ायम करो!
जनता को आपस में बाँटने और लड़ाने की संघी साज़िशों को नाकाम करो!

महामारी के दौर में भी चन्द अरबपतियों की दौलत में भारी उछाल!

(पेज 16 से आगे)

रिज़र्व ने ब्याज दरों में कटौती करके शून्य तक कर दिया और बॉण्डों की असीमित मात्रा को ख़रीदने का आश्वासन दे दिया था जिसकी वजह से स्टॉक जैसे एसेट की माँग बढ़ गयी और शेयर बाज़ार के सूचकांक नैस्डैक में रिकॉर्ड छलाँग देखने में आयी। इस वजह से निवेशकों ने हाई टेक, हेल्थकेयर (फ़ार्मा व अस्पतालों), ऑनलाइन रिटेल व ई-बिज़नेस जैसे सेक्टरों की कम्पनियों की ईक्विटी ख़रीदने में ख़ूब पैसे झोंके क्योंकि महामारी के दौर में इन कम्पनियों द्वारा प्रदान किये जाने वाले उत्पाद व सेवाओं की माँग काफ़ी बढ़ने की सम्भावना थी। नतीजतन इन सेक्टरों की अग्रणी कम्पनियों व उनके शेयरहोल्डरों की सम्पदा में ज़बर्दस्त इज़ाफ़ा हुआ।

यहाँ ग़ौर करने वाली बात यह है कि दुनिया के चन्द धन्नासेठों की सम्पत्ति में इज़ाफ़ा समूची पूँजीवादी व्यवस्था की सेहत का पैमाना नहीं है क्योंकि किसी अर्थव्यवस्था की सेहत केवल कुछ सेक्टरों की चुनिन्दा कम्पनियों से ही नहीं बल्कि तमाम सेक्टरों में उत्पादन के हालात व मुनाफ़े की औसत दर से तय होती है। इसके अलावा यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पूँजीपति वर्ग में औद्योगिक पूँजीपतियों के अलावा वित्तीय क्षेत्र के पूँजीपति व तमाम व्यापारी, एवं सट्टाख़ोर शामिल होते हैं। ऐसे में इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं है कि जब पूरी अर्थव्यस्था संकट के भँवर में फँसी है ऐसे में चन्द अरबपतियों की सम्पदा बढ़ रही है। अगर समग्रता में बात की जाये तो जहाँ एक ओर यह बात सच है कि कोरोना काल में मुट्ठीभर अरबपतियों की सम्पदा में इज़ाफ़ा हुआ है वहीं यह भी सच है कि अधिकांश अरबपतियों की कुल सम्पदा में गिरावट आयी है। एक हालिया रिपोर्ट के मुताबिक़ इस साल दुनिया के अरबपतियों की कुल सम्पदा 8 ट्रिलियन डॉलर थी जबकि पिछले साल वह 8.7 ट्रिलियन डॉलर थी। इस साल एक हज़ार से ज़्यादा अरबपतियों की कुल सम्पदा में गिरावट आयी जो अभूतपूर्व है।

भारत की बात करें तो यहाँ के सबसे बड़े धनपशु मुकेश अम्बानी की कुल सम्पदा में कोरोना काल में भी ज़बर्दस्त इज़ाफ़ा हुआ। परन्तु उसकी मुख्य वजह यह थी कि उसकी टेलीकॉम कम्पनी जियो में इस साल फ़ेसबुक सहित कई वैश्विक निवेशकों ने भारी निवेश किया जिसकी वजह से उसकी कम्पनी के शेयर और उसके निजी शेयर के मूल्य में भारी बढ़ोत्तरी हुई। इसी प्रकार वैक्सीन बनाने वाली कम्पनी सीरम इंस्टीट्यूट के साइरस पूनावाला की सम्पत्ति में बहुत ज़्यादा इज़ाफ़ा देखने में आया है जिसकी वजह यह है कि कोरोना काल में इस कम्पनी के बिज़नेस की अपार सम्भावनाओं को देखते हुए उसके शेयर मूल्य में ज़बर्दस्त छलाँग लगी। ग़ौरतलब है कि यह वही कम्पनी है जिसमें हाल ही में प्रधान सेवक ने कोरोना की वैक्सीन बनाने की प्रक्रिया का जायज़ा लेते हुए फ़ोटो सेशन करवाया था।

इन बातों से यह स्पष्ट है कि कोरोना काल में चन्द अरबपतियों की सम्पदा में इज़ाफ़ा और मेहनतकश आबादी की तबाही व बर्बादी में कोई ताज्जुब की बात नहीं है क्योंकि यह पूँजीवाद के आम नियम के अनुरूप ही है। साथ ही यह भी सच है कि ऐसे आँकड़े पूँजीवाद की अच्छी सेहत को नहीं बल्कि उसकी मरणासन्न अवस्था को ही दिखाते हैं।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ
सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये
मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546, 9971196111
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 8860792320
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 5/- रुपये वार्षिक – 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 2000/- रुपये

आपस की बात

कोरोना के बहाने मज़दूरों को ठगने और लूटने में जुटी हैं कम्पनियाँ

मेरे एक परिचित लगभग 20 सालों से एक मैन्युफ़ैक्चरिंग कम्पनी में काम कर रहे थे। उनकी तनख़्वाह 15,000 के क़रीब थी। ओवरटाइम और छुट्टियों में काम करने पर दुगने पैसे मिलते थे तो 12 घण्टे काम करके महीने भर के 30,000 रुपये बन जाते थे। जीवन ठीक-ठाक चल रहा था। मोदी जी के अन्धभक्त थे तो कभी-कभी हम जैसे लोगों को बड़ी आसानी से गालियाँ सुना दिया करते थे। कल दुखड़ा सुनाने के लिए उन्होंने फ़ोन किया। बताया कि कम्पनी ने कोरोना में घाटा दिखाकर पहले तो सभी कर्मियों को नौकरी से निकाल दिया। सबको PF भी दे दिया। फिर सभी कर्मचारियों को लगभग 50% कम सैलरी पर एक बार पुनः नियुक्ति दे दी। अब उनकी नयी तनख़्वाह हो गयी है "8000 रुपये महीना।" इस बार उनके काम के घण्टे 9 से बढ़ाकर 12 घण्टे कर दिये गये हैं। (सरकार पूरा ज़ोर लगा रही है कि कम्पनियों में मज़दूरों के 12 घण्टे काम के नियम क़ानून में शामिल हों।) इस तरह अब उन्हें ओवरटाइम तो करना ही होगा लेकिन उसके कोई एक्स्ट्रा पैसे नहीं बनेंगे। ऐसा करके कम्पनी ने काफ़ी पैसे बचा लिये तो 300 और नये लोगों को नियुक्ति दे दी। अब रोज़गार की संख्या में ज़बर्दस्त इज़ाफ़ा तो हुआ लेकिन 12 घण्टे काम कर 30,000 कमाने वाले अब 8000 पर आ गये। अब 50 साल का आदमी भला इस उम्र में क्या नया सीखे और नया काम ढूँढ़े। इस उम्र में जब पैसे की ज़्यादा ज़रूरत होती है तब आमदनी घट गयी और काम के घण्टे बढ़ गये हैं। नया लेबर-लॉ अभी ड्राफ़्ट ही हुआ है कि उससे पहले रुझान आने शुरू हो गये हैं। मैंने तो उनसे बस यही कहा कि देशभक्ति साबित करने के लिए यदि भगतसिंह फाँसी पर चढ़ सकते हैं तो देशभक्त जनता 8000 रुपये महीने पर काम क्यों नहीं कर सकती!?

– गौतम कश्यप (फ़ेसबुक से)

मज़दूरों-मेहनतकशों को संगठित होकर अपने हक़ के लिए लड़ना होगा

मैं दिल्ली विश्वविद्यालय का छात्र हूँ। मैं दिल्ली के नरेला में आने वाले अलीपुर गाँव में रहता हूँ। मैं 'मज़दूर बिगुल' के पाठक के अनुभव के आधार पर अपने विचारों को साझा करना चाहता हूँ। मैं पिछले डेढ़ वर्षों से मज़दूर बिगुल अख़बार का पाठक रहा हूँ। मुझे लगता है यह अन्य अख़बारों की तुलना में जनता के बीच उन विचारों को ले जा रहा है जिन्हें ले जाने की मंशा और हिम्मत कॉरपोरेट मीडिया में नहीं है। आज के दौर में छात्रों- युवाओं, मज़दूरों और ग़रीब किसानों के एक बड़े हिस्से में व्यवस्था को लेकर गहरा असंतोष है और कुछ कर गुज़रने का जोश है। इसलिए हमें ऐसी अख़बार की सख़्त ज़रूरत है जो समाज में हो रही घटनाओं का सही नज़रिये से विश्लेषण प्रस्तुत करता हो, एक सामाजिक वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करता हो।

मौजूदा व्यवस्था की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं के वास्तविक रूप को जानने के लिए मज़दूर बिगुल अख़बार महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। यह वर्ग-संघर्ष को वैज्ञानिक भौतिकवादी आधार प्रस्तुत करता है। जैसा कि हम जानते हैं कि मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था के कल-कारख़ानों और खेतों में काम करने वाली मेहनतकश आबादी का ख़ून चूसा जाता रहा है। पूँजीपति मुनाफ़े को बरक़रार रखने के लिए तरह-तरह के हथकण्डे अपनाता रहा है। एक तरफ़ तो बेरोज़गारी की मार है तो दूसरी तरफ़ मज़दूरी इतनी कम दी जाती है कि मज़दूर अपने जीवन-यापन के लिए ज़रूरी संसाधनों को जुटाने में असमर्थ है। इस स्थिति में वह बमुश्किल ही जीवित रह पाता है, लेकिन व्यावसायिक मीडिया में वही जानकारी दी जाती है जो पूँजीपति और उनके पार्टियों के मुताबिक़ हमारी सोच को संचालित करने में मददगार हो। आज कॉरपोरेट और गोदी मीडिया के न्यूज़ चैनल शासक वर्ग और पूँजीपतियों के हाथों की कठपुतली हैं, इन्हें जनता के दुःख-दर्द से कोई सरोकार नहीं रह गया है। इस स्थिति में यह ज़रूरी बन जाता है कि मज़दूर बिगुल अख़बार मेहनतकश आबादी तक पहुँचे और वे वर्ग और वर्ग विचारधारा को समझने की चेतना विकसित करें। मैं पिछले कई वर्षों से अलीपुर में रह रहा हूँ जो कि नरेला के निर्वाचन क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। अलीपुर में एक प्रशासनिक मुख्यालय भी है। यहाँ सामाजिक वर्ग मतभेद व्यापक स्तर पर हमेशा मौजूद रहा है। एक तरफ़ आरएसएस जैसी फ़ासीवादी संस्था पिछले कई वर्षों से पैर फैलाए हुए है जो हिन्दुत्ववादी कट्टरता का प्रचार कर रही है। विचित्र बात यह है कि यह संस्था अलीपुर को हरिपुर के नाम से सम्बोधित करती है। दूसरी तरफ़ मध्यम वर्ग की स्थानीय आबादी ने भी यूपी और बिहार से आने वाली मेहनतकश आबादी को कमरों के किराये और दबंगई से उनके ऊपर अपने दबदबे को बरक़रार रखा है। मुझे लगता है इन विकराल परिस्थितियों में वर्ग-संघर्ष जैसे विचारों को मज़दूर बिगुल और उसके अध्ययन चक्रों के ज़रिये मेहनतकश आबादी में ले जाने की ज़रूरत है ताकि उनमें एक वर्ग चेतना विकसित हो।

– संजय, अलीपुर, दिल्ली

बुनियादी सुविधाओं से भी वंचित और सरकारी उपेक्षा की शिकार राजधानी दिल्ली की झुग्गियों का नारकीय जीवन

हमारे देश में हर साल लाखों की संख्या में लोग शहरों की ओर प्रवास करते हैं। इसका मुख्य कारण रोज़गार तथा बेहतर आजीविका प्राप्त करना होता है, जिससे वे अपने जीवन स्तर को बेहतर बना सकें। परन्तु शहरी जीवन केवल सापेक्षित तौर पर ग्रामीण जीवन से बेहतर होता है। मेहनतकश आबादी का शहरों का जीवन भी बदतर ही है। मज़दूरों के सामने सवाल बेहतर नरक चुनने का होता है। ये झुग्गियाँ अपराध और नशे का भी अड्डा हैं। इनमें से एक शाहबाद डेयरी जे. जे. कॉलोनी है जो अक्सर अपने आपराधिक चरित्र के कारण चर्चा में रहती है।

यह बस्ती छोटे क्षेत्रफल में फैली है परन्तु यहाँ की जनसंख्या 50,000 से भी अधिक है जिसमें 10,000 से भी अधिक झुग्गियाँ हैं और कम क्षेत्रफल में अधिक जनसंख्या होने के कारण अनेक स्वच्छता तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं का होना तो लाज़िमी है। 90% से अधिक घरों में शौचालयों की उपलब्धता नहीं है, कारणवश यहाँ के लोगों को दिल्ली नगर निगम (MCD) के शौचालयों का इस्तेमाल करना पड़ता है, जिसके लिए पैसे भी देने पड़ते हैं। यह साफ़ तथा स्वच्छ नहीं होते। साथ ही महिलाओं के लिए ये शौचालय काफ़ी असुरक्षित भी हैं। आए दिन महिलाओं के साथ दुष्कर्म की घटनाएँ सामने आती हैं। स्वच्छ पानी के लिए पाइप लाइन उपलब्ध नहीं है, और जहाँ है, वह जगह-जगह फूटी होने के कारण उनमें नाली का पानी आता है। दिल्ली जल बोर्ड के टैंकर आते हैं लेकिन वे अपर्याप्त होते हैं। पानी के लिए टैंकरों पर अक्सर लड़ाइयाँ हो जाती हैं और कई बार टैंकर आते भी नहीं हैं। अन्त में इतनी जद्दोजहद के बाद बमुश्किल से ही पीने पर का पानी मिल पाता है। परन्तु इस जल की भी स्वच्छता का अभाव है। इस क्षेत्र में अधिकतर लोग पानी से फैलने वाली बीमारियों जैसे डायरिया, हैज़ा आदि से पीड़ित हैं।

इलाज की सुविधाओं का भी अभाव है। सरकारी अस्पतालों में लम्बी-लम्बी लाइनों में हालत और ख़राब कर देने वाली भीड़ होती है। बीमारियों के तमाम कारणों में से एक कारण है नालों का कचरा, जो नगर निगम द्वारा निकालकर गलियों में ही छोड़ दिया जाता है अतः जिससे पुन: अनेक स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। जहाँ जीवन की सामान्य ज़रूरत की वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए इतनी जद्दोजहद करनी पड़ती हो, वहाँ गुणवत्तापूर्ण शिक्षा तो एक स्वप्न ही है। ज़ाहिर है शाहबाद डेरी की अधिकतर आबादी दिहाड़ी मज़दूरी, रिक्शा चलाना, सफ़ाई आदि कार्यों में ही सलंग्न है। जो मुश्किल से ही अपनी निम्नतम आजीविका सुनिश्चित कर पाते हैं। ऐसे में मजबूरन अपने बच्चों को सरकारी विद्यालयों में ही पढ़ने के लिए भेजना पड़ता है। हालाँकि पूरे देश में ही अधिकतर सरकारी विद्यालयों की शिक्षा के दयनीय स्तर से हम भलीभाँति परिचित हैं, परन्तु जब एक झुग्गी के सरकारी विद्यालयों की बात आती है तो स्थिति कई गुना दयनीय पायी जाती है।

इसका मुख्य कारण बच्चों में प्रोत्साहन तथा उचित मार्गदर्शन का अभाव है। साथ ही अधिकतर माता-पिता अपने बच्चों को 14-15 वर्ष की आयु में ही अपने साथ काम पर लगा लेते हैं, जिससे उनकी पढ़ाई अधिकतर पाँचवी से छठी कक्षा तक ही हो पाती है। हालाँकि कुछ छात्र किसी प्रकार से 12वीं कक्षा तक पहुँच भी जाते हैं तो वह मार्गदर्शन के अभाव तथा आर्थिक कारणों से आगे नहीं बढ़ पाते। अन्त में वे छात्र प्रेरणाहीन होकर अपराधिक कार्यों जैसे चोरी, जेब काटना आदि में शामिल हो जाते हैं। हाल ही में ही शाहबाद डेयरी में दिन-दिहाड़े कुछ स्कूली छात्रों द्वारा क़त्लेआम की घटना को अंजाम दिया गया। इन छात्रों के अपराध में प्रवेश करने की ज़िम्मेदारी इस ज़हरीले परिवेश की ही बनती है।

शाहबाद डेयरी केवल एक सामान्य सा उदाहरण है, इसके अलावा देश की ऐसी ही हज़ारों झुग्गी बस्तियों के लोग इसी प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहे हैं जो जीवन की बुनियादी सामाजिक, आर्थिक, शिक्षा तथा स्वास्थ्य सुविधाओं से महरूम हैं।

सरकारी आँकड़ों के अनुसार केवल दिल्ली में ही 700 झुग्गियाँ हैं जिसमें दिल्ली की एक-तिहाई अर्थात क़रीब 80 लाख आबादी रहती है। पूरे भारत की बात करें तो 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या का 17.4% हिस्सा झुग्गी बस्तियों में निवास करता है। इन सबकी स्थिति भी कमोबेश उपर्युक्त उल्लिखित शाहबाद डेरी की जैसी ही हैं। ग़रीबी हटाओ, बेरोज़गारी मिटाओ, सबको आवास सरीख़े झूठे नारे सालों से हम सुनते आ रहे हैं। परन्तु अब भी सवाल जैसे के तैसे हैं। आख़िर आज़ादी के इतने दशकों बाद भी हम कहाँ खड़े हैं और हमें कहाँ खड़ा होना चाहिए था?

– सूरज सिंह, शाहाबाद डेयरी, दिल्ली

जनता के मुद्दों से मुँह मोड़ चुके पूँजीवादी मीडिया के दौर में 'मज़दूर बिगुल' उम्मीद जगाता है

हम मनुष्यों के हर दिन की शुरुआत बीते कल की घटनाओं को जानने की उत्सुकता के साथ शुरू होती है। लेकिन जैसे ही दरवाज़े पर पड़े आजकल के अख़बारों का मुखपृष्ठ देखता हूँ तो मेहनतकश जनता की रोज़मर्रा की समस्याओं या समाज के लिए उपयोगी ख़बरों की जगह हिन्दुत्व के नाम पर रंग-बिरंगे सुनहरे अक्षरों में साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने वाले शब्द लिखे होते हैं। अख़बारों का यह चरित्र धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक देश कहलाने वाले भारत के लोकतंत्र के चौथे खम्भे की ढोल की पोल खोल देता है।

23 नवम्बर दिन सोमवार को हिन्दुस्तान अख़बार (प्रयागराज) के मुख्य पृष्ठ (पूरा पेज) की शुरुआत इन लाइनों से होती है – "भारतवर्ष के हिन्दू राष्ट्र के रूप में स्थापित होने की जन मंगल कामना एवं हिन्दू समाज के जन कल्याण हेतु माँ भगवती का सतचण्डी यज्ञ एवं अनुष्ठान" (व्यक्ति और कार्यक्रम स्थल के नाम के साथ)।

मुख्यधारा की चाटुकार पत्रकारिता के इस काले समय में आज आम मेहनतकश आबादी से जुड़े मुद्दे जैसे बेरोज़गारी, महँगाई, संगठित और असंगठित क्षेत्र में काम करने वाली मज़दूर आबादी की समस्याओं, निजीकरण, छात्र-युवा विरोधी नीतियों, बढ़ते स्त्री-विरोधी अपराध और अन्य सामाजिक मुद्दों पर विस्तृत ख़बरें और लेख 'मज़दूर बिगुल' अख़बार में होते हैं, इससे लगता है कि सत्ता के तलवाचाट अख़बारों के बीच 'मज़दूर बिगुल' अख़बार ही मेहनतकश आबादी का अपना अख़बार है।

अक्टूबर के अंक में छपे लेख 'इस लोकतंत्र के तीसरे और चौथे खम्भे यानी न्यायपालिका और मीडिया की स्वतंत्रता और निष्पक्षता की असलियत' पर विस्तृत रूप से चर्चा करने के लिए मज़दूर बिगुल के सम्पादक मण्डल का बहुत-बहुत आभार और उम्मीद है कि आने वाले समय में भी मज़दूर बिगुल अख़बार मेहनतकश के प्रति अपने कर्तव्य का पूर्ण रूप से निर्वहन करता रहेगा।

– अम्बरीश
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

...झुग्गियों का नारकीय जीवन

नयी शिक्षा नीति के तहत आँगनवाड़ी केन्द्रों में प्री-प्राइमरी की पढ़ाई

आँगनवाड़ी कर्मियों से बेगारी करवाने का नया तरीक़ा !

केन्द्र सरकार ने नयी शिक्षा नीति के तहत प्री-प्राइमरी के बच्चों की आँगनवाड़ी में अनिवार्य पढ़ाई के निर्देश दिये हैं। नयी शिक्षा नीति के तहत आने वाले दिनों में जल्द ही पूरी शिक्षा व्यवस्था की नयी रूपरेखा तैयार की जायेगी जिसमें एक महत्वपूर्ण बात यह है कि हर बच्चे के लिए आवश्यक प्री-प्राइमरी की पढ़ाई आने वाले समय में आँगनवाड़ी कर्मियों के ज़िम्मे होगी। इस नयी ज़िम्मेदारी के लिए आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों की योग्यता कम से कम 12वीं पास होनी चाहिए। नयी शिक्षा नीति के तहत पहले से कार्यरत महिलाकर्मियों में से जिनके पास यह योग्यता नहीं होगी, उन्हें अलग से एक साल इसका प्रशिक्षण लेना पड़ेगा।

यहाँ ध्यान देने की बात यह कि आँगनवाड़ी केन्द्रों में कार्यरत अधिकतर महिलाएँ 8वीं या 10वीं पास हैं जो कि सरकार के प्री-स्कूल के लिए ज़रूरी मापदण्डों पर खरी नहीं उतरेंगी। ज़ाहिरा तौर पर ऐसे लोगों की बड़े पैमाने पर छँटनी होगी और नयी भर्तियों के द्वार खोले जायेंगे या फिर यूँ कहें कि नयी भर्तियों के ज़रिये होने वाले भ्रष्टाचार के लिए द्वार खुल जायेंगे।

हमारे लिए दूसरी ग़ौर करने वाली बात यह है कि प्री-स्कूल की यह व्यवस्था लागू होने से आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों के शोषण में भी बढ़ोत्तरी होगी। सरकार द्वारा 'स्वयंसेविका' की संज्ञा से नवाज़ी गयी आँगनवाड़ी महिलाओं से एक कर्मचारी जितना काम कराया जाता है। पहले ही उनसे आँगनवाड़ी के कामों के अतिरिक्त सर्वे व अन्य काम कराये जाते हैं। अब इन महिलाओं के सस्ते श्रम का फ़ायदा उठाकर उनकी मेहनत की लूट को खुलेआम अंजाम दिया जायेगा। जिस केन्द्र सरकार की ओर से कोरोना महामारी के दौर में मानदेय भी वक़्त पर नहीं आया और जिस केन्द्र सरकार को मामूली से बढ़ा हुआ मानदेय देने में 1 साल से ऊपर का वक़्त लग गया, उनके पास आँगनवाड़ीकर्मियों के लिए देने को कर्मचारी का दर्जा नहीं, ज़िम्मेदारी का भार है!

इस नयी नीति की बानगी दिल्ली सरकार के महिला और बाल-विकास द्वारा हाल में ही जारी एक नोटिस में देखी जा सकती है जिसमें आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों के काम के घण्टे बढ़ाये जाने का फ़रमान है और साथ ही कई आँगनवाड़ियों को जोड़कर हब केन्द्र बनाने का आदेश है।

हमारा यह मानना है कि आँगनवाड़ी केन्द्रों की गुणवत्ता में बेशक सुधार किया जाये। हमें काम की ज़िम्मेदारी से भी कोई गुरेज़ नहीं है। लेकिन यदि सरकार सिर्फ़ हमपर ज़िम्मेदारी का बोझा लादना चाहती है, तो हम इसके ख़िलाफ़ हैं! बेशक हमें प्री-प्राइमरी की ज़िम्मेदारी सौंपिए, लेकिन पहले हमें कर्मचारी का दर्जा दीजिए और सभी श्रम-क़ानूनों को हमारे लिए लागू कीजिए। इसके इतर यह सुनिश्चित किया जाये कि पहले से ही कार्यरत आँगनवाड़ी महिलाकर्मियों को इस नयी शैक्षणिक योग्यता के नाम पर बर्ख़ास्त नहीं किया जायेगा। नयी शिक्षा नीति न सिर्फ़ आँगनवाड़ीकर्मियों के शोषण को बढ़ावा देगी, बल्कि यह शिक्षा के अधिकार के ही ख़िलाफ़ है। अतः इस शिक्षा नीति को वापस लिया जाये!

– बिगुल संवाददाता

विलय के नाम पर कर्मियों की छँटनी पर आमादा सरकार

महामारी से जन्मी विपदा ने देश के मेहनतकशों के सामने अस्तित्व का संकट ला खड़ा किया। आँगनवाड़ी महिलाकर्मी भी इस दौरान अपनी ज़िन्दगी दाँव पर रख काम करने को मजबूर हुईं।

दिल्ली में महिला एवं बाल विकास विभाग के अन्तर्गत समेकित बाल विकास परियोजना के तहत आने वाले आँगनवाड़ी केन्द्रों में कार्यरत महिलाकर्मियों को सम्पूर्ण लॉकडाउन के दौरान बिना किसी सुरक्षा के इन्तज़ामों के घर-घर जाकर बच्चों को पोषाहार पहुँचाने के निर्देश दिये गये। दिल्ली सरकार द्वारा जारी यह जन-विरोधी निर्देश कई महिलाओं की बीमारी का कारण बने। जहाँ एक तरफ़ कोरोना योद्धाओं के लिए मोदी सरकार की तरफ़ से फूल बरसाये गये, ताली-थाली बजवाये गये वहीं दूसरी तरफ़ अस्पतालों में बदइन्तज़ामी और बुनियादी सुविधाओं जैसे कि मास्क और सैनिटाइज़र की कमी कइयों के मौत का कारण बने। दिल्ली में इन 22 हज़ार कोरोना योद्धाओं के लिए दिल्ली सरकार का अगला तोहफ़ा 22 मई को जारी किया गया था जिसमें आँगनवाड़ी केन्द्रों की कार्यावधि बढ़ाने व केन्द्रों के विलय का फ़ैसला लिया गया। वैश्विक महामारी के इस दौर में बेगारी व छँटनी का पैग़ाम देने वाला यह आदेश कोई इत्तेफ़ाक़ नहीं है। बाक़ी सेक्टरों की तरह आँगनवाड़ियों में छँटनी करने का इससे अच्छा मौक़ा सरकार को नहीं मिलता। और इसको लागू करने के लिए कई परियोजनाओं में औचक निरीक्षण कर कई महिलाओं को इस दौरान ग़ैर-क़ानूनी तरीक़े से काम से निकाला गया है। दिल्ली की हज़ारों आँगनवाड़ी महिलाकर्मी कर्मचारी का दर्जा व श्रम क़ानूनों के अन्तर्गत लाये जाने जैसी माँगें पिछले लम्बे समय से कर रही हैं। इन तमाम माँगों पर सरकार ने अब तक कोई ध्यान नहीं दिया और अब महिला एवं बाल विकास विभाग आँगनवाड़ियों के काम के घण्टे बढ़ाकर महिलाओं से बेगारी करवाना चाहता है।

दूसरा हमें आँगनवाड़ी केन्द्रों के विलय को समझना होगा। इसके तहत तीन या चार आँगनवाड़ी की जगह एक बड़ी आँगनवाड़ी खोली जायेगी। मान लीजिए, अगर तीन केन्द्रों को एक में मिलाया जाता है तो इसका मतलब होगा कि हर तीन में से दो सेण्टर बन्द कर दिये जायेंगे। इसका सीधा नुक़सान सबसे पहले तो उन हज़ारों बच्चों को होगा जो अपने घरों से दूर स्थित इन नये केन्द्रों तक नहीं पहुँच सकेंगे। इसका दूसरा बड़ा नुक़सान उन आँगनवाड़ी कर्मियों को होगा जिनके केन्द्रों का विलय किया जायेगा और उनकी छँटनी कर दी जायेगी। सीधी-सी बात है कि यदि सेण्टर 11,000 की बजाय 3,666 रह जायेंगे तो आँगनवाड़ी कर्मी भी 22,000 से घटाकर 7,333 ही रह जायेंगी। दिल्ली में फ़िलहाल जहाँ नये सेण्टर खोलकर ज़्यादा बच्चों तक पहुँचने की आवश्यकता है वहीं विभाग अपने निर्देश से बड़े पैमाने पर आँगनवाड़ी सेवा को ख़त्म करने पर आमादा है।

नोएडा के औद्योगिक मज़दूरों के सामने चुनौतियाँ

शोषण-उत्पीड़न झेलते दसियों लाख मज़दूर, पर एकजुट संघर्ष और आन्दोलन का अभाव

उत्तर प्रदेश औद्योगिक क्षेत्र विकास क़ानून नोएडा में 1976 में आपातकाल के दौर में से अस्तित्व में आया। नोएडा भारतीय पूँजीवादी व्यवस्था की महत्वाकांक्षी परियोजना दिल्ली-मुम्बई इण्डस्ट्रियल कॉरीडोर का प्रमुख बिन्दु बनता है। आज नोएडा में भारत की सबसे उन्नत मैन्युफ़ैक्चरिंग इकाइयों के साथ ही सॉफ़्टवेयर उद्योग, प्राइवेट कॉलेज, यूनिवर्सिटी और हरे-भरे पार्कों के बीच बसी गगनचुम्बी ऑफ़िसों की इमारतें और अपार्टमेण्ट स्थित हैं। दूसरी तरफ़ दादरी, कुलेसरा, भंगेल सरीखे गाँवों में औद्योगिक क्षेत्र के बीचों-बीच और किनारे मज़दूर आबादी ठसाठस लॉजों और दड़बेनुमा मकानों में रहती है। यह क्षेत्र बड़ी औद्योगिक इकाइयों का क्षेत्र रहा है। यहाँ डेवू, यामाहा से लेकर तमाम ऑटो कम्पनियाँ मौजूद हैं। पिछले कुछ सालों में 'मेक इन इण्डिया' के तहत ओप्पो और वीवो सरीख़ी चीनी मोबाइल फ़ोन कम्पनियाँ भी खुली हैं। इन मोबाइल कम्पनियों में और एलजी से लेकर मोज़र बेयर में मज़दूर पिछले दस सालों में कम्पनी प्रबन्धन के ख़िलाफ़ लड़ते रहे हैं। परन्तु मज़दूर आन्दोलन को कोई जीत हासिल नहीं हुई है। नोएडा के फ़ेज़ टू में औद्योगिक इलाक़ा सबसे अधिक फैला है। बाउण्ड्री का इलाक़ा यानी कि विशेष आर्थिक ज़ोन में ठेकेदारी पर काम होता है और यहाँ मज़दूरों का बेइन्तहा दमन होता है। हाज़री के काम में भी ठेकेदारों का बोलाबाला है। इनके बरक्स ग्रेटर नोएडा में अधिक बड़ी औद्योगिक इकाइयाँ हैं जहाँ इलेक्ट्रॉनिक सेक्टर और ऑटो सेक्टर में अधिक वेतन है तो एसईज़ेड में बेहद कम वेतन है। जिस तरह दिल्ली में नई औद्योगिक इकाइयों को लगाने की सीमा सामने आने के बाद नोएडा विकसित हुआ था उसी तरह 1990 में नोएडा के आगे नोएडा एक्सटेंशन विकसित हुआ जो अब ग्रेटर नोएडा के नाम से जाना जाता है। यहाँ अधिकतर बड़ी औद्योगिक इकाइयाँ मौजूद हैं।

नोएडा के औद्योगिक इलाक़े में मज़दूरों के कई संघर्ष भी हुए, परन्तु ये असफल रहे हैं जिनके पीछे एक बड़ा कारण पिछले लम्बे समय से केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों द्वारा मज़दूरों के आन्दोलन से ग़द्दारी करना। तमाम नकली लाल झण्डे वाली संसदमार्गी वाम पार्टियों की यूनियनों के तमाम प्रतिनिधि यहाँ मज़दूरों को केवल आर्थिक समझौतों की लड़ाई तक सीमित रखते हैं। जिन उद्योगों में मज़दूर अपने हक़ के लिए लड़े उनके आन्दोलनों को इन यूनियनों ने बेच खाया है। कई यूनियनें अपना अस्तित्व खो चुकी हैं। लॉकडाउन में एक तो वैसे ही मज़दूरों की ज़िन्दगी बेहाल हो गयी और ऊपर से यूपी सरकार ने मज़दूरों के राशन की व्यवस्था नहीं की और न ही मज़दूरों को घर भेजने की व्यवस्था की बल्कि उनको ज़बरन लॉजों में रहने को मजबूर किया गया। इसका क़हर भी सबसे अधिक ठेका मज़दूरों के ऊपर ही पड़ा। लॉकडाउन ख़त्म होने पर पूँजीपतियों को सस्ता श्रम मिले इसलिए सरकार ने मज़दूरों के रहे-सहे श्रम क़ानूनों को तत्काल हटा देने का फ़ैसला किया। योगी सरकार ने पहले काम के घण्टे घटाने हेतु क़ानून पारित किया जिसे इलाहबाद हाई कोर्ट ने ख़ारिज कर दिया। इसके बाद फिर से योगी सरकार ने अध्यादेश पारित कर 38 में से 33 श्रम क़ानूनों को हटा दिया। योगी सरकार के 'यूपी मॉडल' की हक़ीक़त यही है। लेकिन नोएडा में इन नीतियों का कोई विरोध नहीं हुआ है। हाल ही में 26 नवम्बर को मोदी सरकार द्वारा श्रम क़ानूनों पर हमले के ख़िलाफ़ जब गुड़गाँव और दिल्ली में मज़दूर संगठनों ने कुछ इलाक़ों में काम ठप्प कराया तो नोएडा में हड़ताल के दिन केवल प्रतीकात्मक प्रदर्शन हुआ और हड़ताल नहीं हुई।

इसका बड़ा कारण 2013 की केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों की ऐसी ही दो-दिवसीय प्रतीकात्मक हड़ताल की एक घटना थी जब मज़दूरों का ग़ुस्सा सड़कों पर बह निकला था और नोएडा फ़ेज़ टू में मज़दूरों ने तोड़फोड़ की थी। इस हड़ताल का प्रशासन ने ज़बरदस्त दमन किया और मज़दूरों का आन्दोलन तुरन्त बिखर गया। तमाम संगठनों के नेताओं की गिरफ़्तारी हुई और इस घटना के बाद से ही हर एकदिवसीय प्रदर्शन के आह्वान पर नोएडा में केन्द्रीय ट्रेड यूनियन मज़दूरों का केवल जुटान करती हैं।

आज भी मज़दूर काम की परिस्थिति को लेकर ग़ुस्से में हैं परन्तु जब तक मज़दूरों के संघर्ष को नेतृत्व देने वाले क्रान्तिकारी संगठन का अभाव है तब तक मज़दूर ख़ुद-ब-ख़ुद संगठित नहीं हो सकते हैं। ऐसा नहीं है कि इस पट्टी में मज़दूर लड़ते न रहे हों बल्कि मोज़र बेयर, वीवो और एलजी के मज़दूरों ने हड़ताल भी की। परन्तु यह भी केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के नेतृत्व में या संघर्ष की सही समझ न होने के चलते बिखर गया है। वीवो से लेकर ओप्पो के मज़दूर भी पिछले 5 सालों में सड़कों पर उतरे हैं परन्तु प्रशासन और प्रबन्धन के दबाव के चलते मज़दूरों को पीछे हटना पड़ा है। हालिया संघर्षों में हार का बड़ा कारण वस्तुगत भी है। इन इकाइयों में अधिकतम 500 से लेकर 1000 मज़दूर ही कार्यरत हैं और फ़ैक्ट्री आधारित हड़तालों को प्रबन्धन सभी मज़दूरों को काम से निकालकर तोड़ देता है। परन्तु अगर केवल मोबाइल असेम्बल करने वाली चीनी और भारतीय कम्पनियों में कार्यरत मज़दूरों की संख्या जोड़ दें जो यह लाख से ऊपर जाती है। इस मज़दूर आबादी की माँग भी एक है। अगर यह मज़दूर आबादी सेक्टर के आधार पर संगठित होकर लड़े तो मज़दूरों की जीत की सम्भावना अधिक है। साथ ही कम्पनी में ठेका मज़दूर संघर्ष से दूर ही रहते हैं और अगर साथ आते भी है तो वे प्रदर्शनों में भीड़ बढाने का काम ही करते हैं। यूनियन प्रतिनिधि स्थाई मज़दूरों के बीच से ही चुने जाते हैं। ठेका और स्थाई मज़दूरों के बीच बनी दिवार को गिराए बिना भी नोएडा के मज़दूरों के संघर्ष को जीता नहीं जा सकता है। फ़ोर्डिस्ट उत्पादन पद्धति को बिखराकर अब ज़्यादातर कम्पनियों में 25-100 मज़दूर ही काम करते हैं और इस तरह फ़ैक्ट्री आधारित संघर्षों को चलाने और जीतने की सम्भावना कम हो चली है। आज पूरे नोएडा और ग्रेटर नोएडा औद्योगिक इलाक़े में इलाक़ाई और सेक्टरगत आधार पर ठेका और स्थाई मज़दूरों की क्रान्तिकारी यूनियनों का निर्माण नोएडा और ग्रेटर नोएडा के मज़दूरों के सामने एकमात्र विकल्प है।

– बिगुल संवाददाता

लाखों दिहाड़ी व कैज़ुअल मज़दूरों के लिए अब भी हैं लॉकडाउन जैसे ही हालात

– लालचन्द्र

कोरोना नियंत्रण के नाम पर बिना किसी योजना के किये गये लॉकडाउन के बाद अनलॉक करने के भी कई दौर निकल चुके हैं और देश के अधिकांश हिस्सों में ऊपरी तौर पर लॉकडाउन जैसे हालात नज़र नहीं आ रहे हैं। बाज़ारों में भीड़ बढ़ रही है। आबोहवा में प्रदूषण और नदियों में गन्दगी फिर से लौट आयी है। धार्मिक स्थल भी खुल चुके हैं और सरकार की सरपरस्ती में त्योहारों के नाम पर करोड़ों रुपये पानी की तरह बहाने की परम्परा को भी धड़ल्ले से आगे बढ़ाया जा रहा है। ऊपरी तौर पर देखने पर लगता है कि जन-जीवन सामान्य हो चला है। लेकिन अगर आप आज के हालात की पूरी सच्चाई जानना चाहते हैं तो किसी दिहाड़ी मज़दूर से बात करें। तब आपको पता चलेगा कि रोज़ कुआँ खोदकर पानी पीने वाली करोड़ों की इस आबादी की आय के कुएँ में अभी भी पानी बहुत कम आ रहा है।

लॉकडाउन ख़त्म होने के बावजूद अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाली अधिकांश मज़दूर आबादी की मुश्किलें ख़त्म होने का नाम नहीं ले रही हैं। लॉकडाउन के दौर में 15 करोड़ से भी ज़्यादा लोगों का रोज़गार छिन गया था। अब लॉकडाउन ख़त्म होने के बाद भी काम के मौक़ों की भारी क़िल्लत है। कारख़ानों में उत्पादन शुरू होने के बावजूद बड़े पैमाने पर मज़दूरों की छँटनी की जा रही है और पहले से कम मज़दूरों से काम निकलवाया जा रहा है जिससे काम की तलाश में भटक रहे मज़दूरों की रिज़र्व फ़ौज में लगातार इज़ाफ़ा हो रहा है। *सेण्टर फ़ॉर मॉनिटरिंग इण्डियन इकॉनामी* की एक रिपोर्ट के अनुसार अकेले अक्टूबर के महीने में 55 लाख रोज़गार के अवसर कम हुए हैं। अक्टूबर में त्योहारों और खरीफ़ की फ़सलों की कटाई का महीना था। इसके बावजूद मज़दूरों की माँग में बढ़ोतरी होना तो दूर उल्टे कमी आ रही है। इसका सबसे ज़्यादा असर निर्माण क्षेत्र व गारमेण्ट क्षेत्र के मज़दूरों व घरेलू कामगारों सहित अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाले करोड़ों मज़दूरों की आजीविका पर हुआ है।

लॉकडाउन के पहले दिहाड़ी मज़दूरों को महीने में 20-22 दिन काम मिल जाता था और वे हर दिन 400 रुपये से 520 रुपये तक कमा लेते थे, लेकिन अब उन्हें 8-12 दिन का ही काम मिल रहा है और वे हर दिन 250 रुपये से 300 रुपये ही कमा पाते हैं। इतनी कम मज़दूरी में बड़ी मुश्किल से उनके परिवार का पेट भर पाता है। ऑनलाइन पढ़ाई व दवा-इलाज के चक्कर में उन्हें क़र्ज़ा लेना पड़ रहा है। कई बच्चों के माँ-बाप ने उनका नाम स्कूल से कटवा दिया है। इन परिवारों में किसी की डिलीवरी की स्थिति हो अथवा कोई बीमार पड़ जाये तो उन्हें सालों के लिए क़र्ज़दार बनने पर मजबूर होना पड़ रहा है। जहाँ एक तरफ़ सरकारी अस्पतालों में ओपीडी में बहुत सीमित मरीज़ देखे जा रहे हैं और सारी जाँच व दवाएँ अस्पताल से बाहर ही मिल पाती हैं वहीं दूसरी ओर प्राइवेट डाक्टरों ने अपनी फ़ीस बढ़ा दी है। जिस डाक्टर की फ़ीस पहले 200 रुपये थी, अब वह 300 से 500 रुपये तक है। ऐसे में अगर किसी मज़दूर के परिवार में कोई बीमार पड़ जाता है तो उसका संकट और भी बढ़ जाता है।

कपड़े, बैग, जूते आदि बनाने वाले तमाम छोटे-बड़े कारख़ानों और दुकानों, शॉपिंग मॉलों और तमाम ब्राण्डों के शोरूम्स में लगे मज़दूरों को उनकी पहले से आधी तनख़्वाहों पर काम करने को मजबूर होना पड़ रहा है। ऐसे मज़दूरों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना सरकार का काम होता है लेकिन केन्द्र व राज्य सरकारों ने अब तक गाल बजाने और जुमलेबाज़ी करने का काम ही किया है।

घरेलू कामगारों की स्थिति भी बहुत ही ख़राब है। कोरोना के डर से घरों में सफ़ाई, खाना बनाने, बर्तन साफ़ करने का काम करने वाले सभी कामगारों को काम पर वापस नहीं बुलाया जा रहा है और न ही मालिकों की ओर से उन्हें कोई विशेष मदद मिल रही है। ऐसे परिवारों के लिए अपने किराये के मकानों का भाड़ा, बिजली का बिल आदि देना मुश्किल होता जा है। मकान मालिकों द्वारा कमरे ख़ाली करने का दबाव बनाना बदस्तूर जारी है। इसके अलावा लेबर चौक पर काम की तलाश में खड़े होने वाले दिहाड़ी श्रमिकों को पहले की तुलना में काफ़ी कम काम मिल रहा है और उन्हें मजबूरी में आकर पहले से बहुत कम मज़दूरी पर काम करना पड़ रहा है।

हाल ही के कुछ सर्वेक्षण ग़रीबों-मेहनतकशों के जीवन पर अनियोजित लॉकडाउन की वजह से आई आफ़त की झलक देते हैं। एक सर्वेक्षण में महाराष्ट्र के पुणे और उल्लासनगर के 974 प्रवासी मज़दूरों से बात की गयी। बात करने वाले मज़दूरों में क़रीब आधे निर्माण मज़दूर थे, शेष गारमेण्ट सेक्टर के व बैग बनाने जैसे काम करने वाले मज़दूर थे। इस सर्वेक्षण में शामिल मज़दूरों में से 71 प्रतिशत को लॉकडाउन के दौरान कोई मज़दूरी नहीं मिली। कुल प्रवासी मज़दूरों में से 63 प्रतिशत का कहना था कि उनके गन्तव्य पर जीवित रहने के लिए कोई साधन नहीं है। इसी सर्वे में आगे बताया गया कि 28 प्रतिशत मज़दूरों तक किसी भी प्रकार की कोई सरकारी मदद नहीं पहुँची। जिनको सरकारी मदद मिली उनमें से 75 प्रतिशत ने बताया कि वह मदद पर्याप्त नहीं थी। 26 प्रतिशत मज़दूरों को लॉकडाउन के दौरान भूखे सोना पड़ा। 40 प्रतिशत मज़दूरों को ही सरकार की ओर से खाना व राशन मिल पाया।

लॉकडाउन खुलने के बाद अभी काम मिलने का सिलसिला शुरू ही हो रहा था कि एक बार फिर देश के कई हिस्सों में कोरोना के मामले तेज़ी से बढ़ने की ख़बरें आने लगी हैं। पूरे देश में दूसरी व दिल्ली में तीसरी कोरोना की लहर की बातें चर्चा में हैं और सीमित या पूर्ण लॉकडाउन लगाये जाने की आशंकाओं से मज़दूरों में दहशत का माहौल है। ज़ाहिर है कि सरकार न तो कोरोना महामारी पर अंकुश लगाने में कामयाब हो पा रही है और न ही मज़दूरों की आर्थिक व सामाजिक बदहाली और अनिश्चितता कम करने के लिए कोई कारगर क़दम उठा रही है।

कोरोना काल में आसमान छूती महँगाई और ग़रीबों-मज़दूरों के जीवन की दशा

– रूपा

सेठों-व्यापारियों और समाज के उच्च वर्ग के लिए महँगाई मुनाफ़ा कूटने का मौक़ा होती है, मध्यवर्ग के लिए महँगाई अपनी ग़ैर-ज़रूरी ख़र्च में कटौती का सबब होती है और अर्थशास्त्रियों के लिए महँगाई विश्लेषण करने के लिए महज़ एक आँकड़ा होती है। लेकिन मेहनत-मजूरी करने वाली आम आबादी के लिए तो बढ़ती महँगाई का मतलब होता है उन्हें मौत की खाई की ओर ढकेल दिया जाना। वैसे तो देश की मेहनतकश जनता को हर साल महँगाई का दंश झेलना पड़ता है लेकिन कोरोना काल में उसके सिर पर महामारी और महँगाई की दुधारी तलवार लटक रही है। मोदी सरकार ने बिना किसी योजना के सख़्त लॉकडाउन लगाकर ग़रीबों और मेहनतकशों को भूखे मरने के लिए छोड़ दिया था। लॉकडाउन ख़त्म होने के बाद भी महँगाई लगातार बढ़ती ही जा रही है। आलू, प्याज, टमाटर, दाल, गेहूँ और चावल की क़ीमतें आसमान छू रही हैं जिसकी वजह से वे ग़रीबों की थाली से ग़ायब होती जा रही हैं।

लखनऊ के मेहनतकशों के रिहायशी इलाक़ों में जनकार्यों के दौरान हमें ग़रीबों व मेहनतकशों के जीवन की मुश्किलों को क़रीब से जानने-समझने का मौक़ा मिलता है। खदरा इलाक़े में एक सज्जन रिक्शा चलाते हैं। उनके परिवार में पाँच सदस्य हैं जिनका ख़र्चा वे रिक्शा चलाकर ही निकालते हैं। उन्होंने हमें बताया कि जब से कोरोना संकट आया और लॉकडाउन लगा तब से उनके परिवार का पेट बड़ी मुश्किल से भर पा रहा है। हर चीज़ में कटौती करनी पड़ रही है। उन्हें यह याद नहीं है कि दाल खाये कितने दिन हो गये हैं। वे सब्ज़ी मण्डी में उस समय जाते हैं जब वह बन्द होने वाली होती है ताकि बची–खुची सब्ज़ियाँ सापेक्षत: कम क़ीमत पर ख़रीद सकें। अब तो बच्चों के दूध में भी कटौती करनी पड़ रही है। अगर उनके परिवार का कोई सदस्य बीमार पड़ जाता है तो कुछ दिन तो बिना दवा के ही ठीक होने का इन्तज़ार करते हैं।

हमारी मुलाक़ात एक अन्य शख़्स से हुई जिनके परिवार में उनकी पत्नी और तीन बच्चे हैं। वे दिहाड़ी पर काम करते हैं। जब सामान्य दिन थे तब भी उनके यहाँ रोज़ शाम को चूल्हा नहीं जल पाता था। किसी तरह बच्चों को शाम का खाना खिलाकर माँ-बाप भूखे ही सो जाते थे। लॉकडाउन के दौरान यह परिवार मरते-मरते बचा। मोहल्ले के कुछ लोगों और कुछ रिश्तेदारों ने मदद की, तब किसी तरह इस परिवार का वजूद बच सका।

इन दो दास्तानों से हमें यह झलक मिलती है कि महामारी और महँगाई के इस आलम में एक ग़रीब के लिए अपना पेट भरना कितना मुश्किल होता जा रहा है। शिक्षा, मनोरंजन और तमाम सुख-सुविधाओं की तो बात करना ही बेमानी है। उसकी पूरी उर्जा सिर्फ़ दो जून की रोटी कमाने में खप जाती है।

महँगाई के कारण बहुत-से लोग नियमित दाल, हरी सब्ज़ी, अण्डे आदि खाना या चाय पीना छोड़ चुके हैं। कोरोना से मरने वालों के आँकड़े तो सरकार बता रही है लेकिन इसका कोई आँकड़ा नहीं है कि महामारी के इस दौर में कितने लोग रोज़ाना सही समय पर दवा-इलाज न मिलने की वजह से मर रहे हैं या मरने की कगार पर पहुँच जा रहे हैं। डॉक्टर की फ़ीस, दवाओं, जाँचों सब में दो से तीन गुना का इज़ाफ़ा हुआ है। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार लगभग 63 फ़ीसदी भारतीय बच्चे भूखे सोते हैं। यह सोचकर ही सिहरन होती है कि इन बच्चों का कोरोना काल में क्या हाल होगा।

देश की आर्थिक स्थिति तो पहले से ही डाँवाडोल थी, कोरोना संकट के समय हालात और भी दुश्वार हो गये हैं। जो मज़दूर लॉकडाउन के दौरान गाँव लौट गये थे वे भुखमरी और अभाव की वजह से वापस शहरों की तरफ़ आ रहे हैं। लेकिन इन मज़दूरों के रहने-खाने, दवा-इलाज की व्यवस्था करने वाला कोई नहीं है।

भारत को आत्मनिर्भर व आर्थिक महाशक्ति बनाने की लम्बी चौड़ी डींगें हाँकने का सिलसिला महामारी के दौर में भी थमा नहीं है। लेकिन सच तो यह है कि देश की लगभग तीन-चौथाई आबादी प्रति दिन सिर्फ़ 30 से 40 रुपये पर गुज़ारा करती है। इनके भोजन में पर्याप्त मात्रा में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, विटामिन जैसे ज़रूरी तत्व सन्तुलित मात्रा में नहीं रहते। देश के क़रीब 55 करोड़ असंगठित मज़दूरों की आबादी का पेट बमुश्किल भर पाता है लेकिन उन्हें पौष्टिक खाना तो कभी नहीं मिलता। सरकारी नियम के अनुसार औद्योगिक मज़दूरों को 2700 कैलोरी और भारी काम करने वाले को 3000 कैलोरी भोजन मिलना चाहिए। अधिकांश आबादी को तो इतना भोजन पहले ही नहीं मिल पाता था, महामारी के दौर में तो और भी मुश्किल हो गया है।

वास्तव में महँगाई मुनाफ़े की अन्तहीन हवस पर टिके पूँजीवादी ढाँचे में ही निहित है। सरकारी नीतियाँ भी महँगाई के लिए ज़िम्मेदार होती हैं। भोजन सामग्री में महँगाई की असली वजह ये है कि खेती की उपज के कारोबार पर बड़े व्यापारियों, आढ़तियों, दलालों, सटोरियों और कालाबाज़ारियों का क़ब्ज़ा है। किसी आपदा की वजह से आपूर्ति में कमी के अतिरिक्त चीज़ों के दाम तय करने में इन बिचौलियों की कारगुज़ारियों की भी बड़ी भूमिका होती है। अभी हाल ही में केन्द्र सरकार ने तीन कृषि क़ानून पारित करवाये हैं जिनमें तीसरा क़ानून 'आवश्यक वस्तु संशोधन क़ानून' आवश्यक वस्तुओं की सूची से अनाज, दाल, तिलहन, खाद्य तेल, प्याज और आलू जैसी वस्तुओं को हटाने के लिए लाया गया है जिससे इन बेहद ज़रूरी चीज़ों की जमाख़ोरी को बढ़ावा मिलेगा जिससे खाद्य पदार्थों की क़ीमत में और ज़्यादा बढ़ोतरी होगी। इस समय प्याज 80 रुपये, आलू 40 रुपये, दालें 120 रुपये के आसपास हैं। सोचने की बात है कि जो लोग मज़दूरी या छोटा-मोटा काम करके, रिक्शा चलाकर, ठेला लगाकर या दिहाड़ी करके किसी तरह हर महीने 5000 से 6000 रुपये कमा पाते हैं वे किस तरह ये सब चीज़ें ख़रीद पायेंगे। ऊपर से तुर्रा यह कि आये दिन पेट्रोल, डीज़ल, गैस सिलेण्डर की क़ीमतें बढ़ती रहती हैं जिसकी वजह से बाक़ी सामानों की क़ीमतें भी आसमान छूने लगती हैं। होना तो यह चाहिए था कि पूरे लॉकडाउन के दौरान सरकार लोगों के खाने-पीने, दवा-इलाज का पूरा इन्तज़ाम करती लेकिन हमारे प्रधान सेवक अगर ऐसा करते तो अपनी अय्याशी के लिए 1300 करोड़ रुपये का हवाई जहाज़ कैसे मँगा पाते!

आज सिर्फ़ मज़दूरी बढ़ाने की लड़ाई लड़ना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि अगर मज़दूरी कुछ बढ़ भी जाये तो दूसरी तरफ़ महँगाई बढ़ जाने से हालात और भी बदतर हो जाते हैं। जब तक मुनाफ़े के लिए उत्पादन होगा तब तक महँगाई पर पूरी तरह से क़ाबू नहीं पाया जा सकता है। इसलिए इस मुनाफ़े की व्यवस्था के ख़ात्मे की तैयारी करनी होगी।

26 नवम्बर की देशव्यापी हड़ताल में मज़दूर संघर्ष संकल्प अभियान में शामिल यूनियनों व मज़दूर संगठनों की हिस्सेदारी

मोदी सरकार की जनविरोधी नीतियों, श्रम क़ानूनों में मज़दूर-विरोधी संशोधन व मज़दूरों तथा कर्मचारियों के अधिकारों पर लगातार जारी हमलों के ख़िलाफ़ 26 नवम्बर को आयोजित देशव्यापी हड़ताल में मज़दूर संघर्ष संकल्प अभियान के तहत विभिन्न राज्यों में भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) समेत अन्य यूनियनों व जन संगठनों ने भागीदारी की।

अभियान की ओर से उठायी गयी प्रमुख माँगें हैं :

- मज़दूर-विरोधी चार लेबर कोड वापस लो !
- सार्वजनिक उपक्रमों को बेचना बन्द करो, रेलवे का निजीकरण बन्द करो!
- केन्द्रीय कर्मचारियों के लिए 50/55 साल में अनिवार्य रिटायरमेण्ट ऑर्डर वापस लो!
- भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून पारित करो व नौकरी न दे पाने की सूरत में 10,000 बेरोज़गारी भत्ता देना सुनिश्चित करो!
- रेलवे लाइन के किनारे बसी झुग्गियों को उजाड़ना बन्द करो!
- नियमित कार्य पर ठेकेदारी प्रथा ख़त्म करो!
- केन्द्र द्वारा पारित मज़दूर-विरोधी श्रम क़ानूनों को रद्द करो!
- आवश्यक वस्तु अधिनियम - 1955 में बदलाव रद्द करो!

मज़दूर संघर्ष संकल्प अभियान में शामिल संगठन :

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI), सहयोगी यूनियनें व संगठन: दिल्ली मज़दूर यूनियन, दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन, दिल्ली घरेलू कामगार यूनियन, दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन, बवाना औद्योगिक क्षेत्र मज़दूर यूनियन, दिल्ली मेट्रो रेल कॉन्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन, ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री कॉन्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन, करावलनगर मज़दूर यूनियन, क्रान्तिकारी मनरेगा मज़दूर यूनियन (हरियाणा), निर्माण मज़दूर यूनियन (हरियाणा), बांधकाम कामगार संघर्ष समिति (महाराष्ट्र), आंबिलओढा पूरग्रस्त नागरिक संघर्ष समिति (पुणे, महाराष्ट्र), छत्तीसगढ़ माइन्स श्रमिक संघ (दल्ली राजहरा), छत्तीसगढ़ श्रमिक संघ (शहीदनगर, बीरगाँव), बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा, स्त्री मज़दूर संगठन।

देशव्यापी हड़ताल के दौरान RWPI व क्रान्तिकारी मनरेगा मज़दूर यूनियन के बैनर तले हरियाणा में कलायत तहसील का घेराव

भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी (RWPI) व क्रान्तिकारी मनरेगा मज़दूर यूनियन के बैनर तले देशव्यापी हड़ताल में हरियाणा के गाँव चौशाला, रामगढ़, बालू, सिमला, पिंजपुरा व कलायत शहर के मज़दूरों ने भागीदारी की। हड़ताल के दौरान मज़दूरों ने अपनी एकजुटता का शानदार प्रदर्शन करते हुए मोदी सरकार की मज़दूर-विरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ जमकर नारेबाज़ी की। इस एक दिवसीय विरोध प्रदर्शन में क्रान्तिकारी मनरेगा मज़दूर यूनियन की तरफ़ से यूनियन प्रभारी रमन ने मनरेगा मज़दूरों की समस्याओं पर विस्तार से बात रखी। उन्होंने बताया कि आज मनरेगा मज़दूरों को सरकार द्वारा तय की गयी न्यूनतम मज़दूरी जितनी भी दिहाड़ी नहीं दी जा रही है जिसके बिना मज़दूरों द्वारा अपने परिवार का गुज़ारा कर पाना मुश्किल हो रहा है। आज हर जगह श्रम क़ानूनों की धज्जियाँ उड़ाते हुए मज़दूरों से हाड़-तोड़ मेहनत करवायी जा रही है। लम्बे-चौड़े दावे करने वाली मोदी सरकार मनरेगा मज़दूरों को किसी भी प्रकार की सुविधा नहीं दे रही। ऐसे में काम के दौरान मज़दूरों को पानी व छाया की व्यवस्था भी ख़ुद ही करनी पड़ रही है। आज आँकड़ों के हिसाब से देखा जाये तो पूरे साल में मज़दूरों को बड़ी मुश्किल से औसतन 35 से 40 दिन काम मिल पा रहा है जबकि ख़ुद सरकार द्वारा 100 दिन के काम की गारण्टी तय की गयी है।

क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी की तरफ़ से अजय ने बताया कि आज इस पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बरक़रार रखने के लिए मोदी सरकार मज़दूरों का ख़ून चूसने में कोई कसर नहीं छोड़ रही है। आज अम्बानी-अदानी की चहेती मोदी सरकार ने श्रम क़ानूनों को इतना लचीला बना दिया है कि पूँजीपति अपना मुनाफ़ा बरक़रार रखने के लिए मज़दूरों से हाड़-तोड़ मेहनत करवा सकते हैं। कोरोना महामारी के दौर में भी मोदी सरकार इस आपदा को अवसर में बदलने का कोई भी मौक़ा नहीं छोड़ रही है। जनता के ख़ून-पसीने से खड़े किये गये हर पब्लिक सेक्टर को आज पूँजीपतियों के हाथों में सौंपा जा रहा है। देखा जाये तो आज यह फ़ासीवादी सरकार लोगों के जनवादी अधिकारों पर हमला करते हुए उनको जाति-धर्म में बाँटने में पुरज़ोर तरीक़े से लगी हुई है ताकि वो अपनी बुनियादी समस्याओं पर सोच-विचार न कर सकें। अपनी बात के अन्त में उन्होंने बताया कि आज इस प्रकार की हड़तालों को अनिश्चितकालीन हड़ताल में बदलने की ज़रूरत है ताकि इस मानवद्रोही व मुनाफ़ा-केन्द्रित पूँजीवादी व्यवस्था का ख़ात्मा करके मानव-केन्द्रित समाजवादी व्यवस्था का निर्माण किया जा सके।

कोरोना काल में मनरेगा के बजट में वृद्धि के सरकारी ढोल की पोल

– अनुपम

अब यह दिन के उजाले की तरह साफ़ हो चुका है कि पहले से ही संकट के भँवर में फँसी भारतीय अर्थव्यवस्था की कमर कोरोना महामारी के दौर में पूरी तरह से टूट चुकी है। अब सरकारी आँकड़े भी इसकी गवाही दे रहे हैं। लेकिन भयंकर मन्दी और बेरोज़गारी के इस दौर में भी चाटुकार मीडिया मोदी सरकार का चरण-चुम्बन करने से बाज़ नहीं आ रही है। कोरोना संक्रमण को रोकने के नाम पर आनन-फ़ानन में थोपे गये लॉकडाउन के बाद जब मज़दूरों के पलायन को लेकर दुनियाभर में मोदी सरकार की छीछालेदर होने लगी थी तब भी अधिकांश मीडिया घराने सरकार की वाहवाही में जुटे थे। हमें बताया जा रहा था कि नये रोज़गार पैदा करने के लिए कांग्रेस सरकार की तुलना में मनरेगा का बजट तीन गुना बढ़ा दिया गया है। लेकिन मोदी काल में किये गये दावों के हवाई किलों की तरह इस दावे की इमारत भी आँकड़ों की बाज़ीगरी की नींव पर टिकी है। असलियत तो यह है कि कोरोना काल में गाँवों में हुई मनरेगा के तहत मिलने वाले कामों की बढ़ती माँग की तुलना में सरकारी बजट में बढ़ोत्तरी ऊँट के मुँह में जीरे के समान थी।

ग़ौरतलब है कि 2020-2021 के बजट में मनरेगा के लिए लगभग 60 हज़ार करोड़ रुपये का ही आवण्टन किया गया था और कोरोना महामारी के मद्देनज़र मई में चौथे लॉकडाउन के दौरान केन्द्र सरकार द्वारा मनरेगा के लिए 40 हज़ार करोड़ रुपये अतिरिक्त देने की घोषणा की गयी। इस प्रकार मौजूदा वित्तीय वर्ष में मनरेगा के तहत कुल लगभग एक लाख करोड़ रुपये देने का प्रावधान किया गया है जिसमें से दस हज़ार करोड़ रुपये पिछले वर्ष के बक़ाया भुगतान पर ख़र्च होने हैं। इस प्रकार, इस वित्तीय वर्ष में मनरेगा के तहत क़रीब नब्बे हज़ार करोड़ रुपये ख़र्च होने को हैं। इसी राशि को लेकर मीडिया में मोदी सरकार की तारीफ़ के पुल बाँधे जा रहे हैं।

मोदी सरकार के 6 वर्षों में मनरेगा के तहत आवण्टित राशि में प्रभावी रूप से लगातार कमी आती रही है। इसलिए इस साल आवण्टित राशि देखने में पिछले वर्षों की तुलना में ज़्यादा लगती है। लेकिन इस राशि की तुलना पिछले वर्षों के आवण्टित बजट से करना सरासर बेमानी है क्योंकि इस वर्ष कोरोना महामारी की वजह से अभूतपूर्व हालात पैदा हो गये हैं। 24 मार्च को आनन-फ़ानन में थोपे गये लॉकडाउन की वजह से समूची अर्थव्यवस्था ठप पड़ गयी थी, बेरोज़गारी दर जो मार्च में 8.75 प्रतिशत थी वह अप्रैल में बढ़कर 27 प्रतिशत तक पहुँच चुकी थी और लॉकडाउन के दौरान क़रीब 15 करोड़ लोग बेरोज़गार हो गये थे। ख़ास तौर पर अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाली करोड़ों की आबादी के सामने भुखमरी का संकट पैदा हो गया था। साथ ही छोटे और सीमान्त किसानों की खेती-बाड़ी में भी लॉकडाउन के चलते बर्बादी हुई थी।

लॉकडाउन के शुरुआती एक महीने में मनरेगा के तहत काम भी पूरी तरह से बन्द हो गये थे। इस बीच शहरों से बड़ी संख्या में मज़दूरों का गाँवों की ओर पलायन हुआ और गाँवों में जब अप्रैल के अन्त में मनरेगा के तहत काम शुरू हुआ तो मनरेगा के काम की माँग में ज़बर्दस्त छलाँग देखने में आयी। मौजूदा वित्तीय वर्ष के पहले ढाई महीने में ही क़रीब साढ़े सात करोड़ लोगों ने मनरेगा के तहत काम के लिए आवेदन किया। लेकिन महामारी के दौर में इसे त्रासदी ही कहा जायेगा कि इनमें से दो करोड़ से ज़्यादा लोगों को काम देने से इन्कार कर दिया गया। ग़ौरतलब है कि पिछले वित्तीय वर्ष में क़रीब डेढ़ करोड़ लोगों को काम देने से इन्कार किया गया था। यानी जितने लोगों को पिछले पूरे साल में काम देने से इन्कार किया गया था उससे ज़्यादा लोगों को इस वित्तीय साल के शुरुआती ढाई महीने में इन्कार किया जा चुका था। इससे स्पष्ट है कि केन्द्र सरकार की ओर से आवण्टित 40 हज़ार करोड़ रुपये नाकाफ़ी हैं।

मनरेगा के कामों की बढ़ती माँग को देखते हुए उसके बजट को कम से कम दोगुना किये जाने की ज़रूरत थी। इसके लिए 'पीएम केयर फ़ण्ड' और 'राष्ट्रीय आपदा कोष' से धनराशि निकालना भी जायज़ होता लेकिन आपदा में अवसर तलाशकर पूँजीपतियों के वारे न्यारे किये गये और आम जनता को "लाख करोड़ रुपये" के आँकड़े से पेट भरने के लिए छोड़ दिया गया।

ग़ौरतलब है कि मनरेगा के लिए आवण्टित बजट का आधा हिस्सा जुलाई के महीने तक ही खप गया। अप्रैल से अब तक मनरेगा में 83 लाख से भी अधिक नये कार्डधारक हो चुके हैं जबकि 2019-20 में पूरे साल में केवल 64 लाख नये मनरेगा कार्ड बने थे। अकेले उत्तर प्रदेश में इस वर्ष पिछले साल के मुक़ाबले दोगुने से अधिक नये मनरेगा कार्ड बने।

ये चन्द आँकड़े दिखाते हैं कि कारोना काल में शहरों में ही नहीं गाँवों में भी आम मेहनतकश आबादी के जीवन के हालात बद से बदतर हो रहे हैं। मनरेगा योजना को लागू करवाने की ज़िम्मेदारी राज्य सरकारों की होती है। लेकिन राज्य सरकारों की अक्षमता और संवेदनहीनता ने समस्या को और गम्भीर बना दिया है। हालात ये हैं कि कहीं फ़र्ज़ी कार्ड बन रहे हैं तो कहीं कार्ड होने के बावजूद काम ही नहीं मिल रहा। इस नंगी सच्चाई पर पर्दा डालने के मक़सद से सरकार के तलवे चाटने वाली मीडिया में मनरेगा के बजट में इस साल हुई वृद्धि को बढ़ाचढ़ाकर सरकार के नगाड़े बजाये जा रहे हैं। एक टीवी चैनल ने तो मूर्खता और संवेदनहीनता की ज़बर्दस्त मिसाल पेश करते हुए यहाँ तक डींग हाँक दी कि उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी आदित्यनाथ प्रदेश में मनरेगा के तहत 300 करोड़ रोज़गार देंगे जबकि उत्तर प्रदेश की कुल आबादी ही लगभग 23.7 करोड़ है!

शासकों की डींगों पर फ़िदा होने की बजाय आज ज़रूरत इस बात की है कि मौजूदा अभूतपूर्व परिस्थिति में सरकारों की जवाबदेही तय की जाये। ज़मीनी हालात ये चीख़-चीख़कर बता रहे हैं कि केन्द्र व राज्य सरकारें महामारी के दौर में आम जनता की तकलीफ़ों को कम करने में फिसड्डी साबित हुई हैं।

लगातार चौड़ी होती असमानता की खाई पूँजीवादी संकट की लाइलाज बीमारी का लक्षण है

– अखिल

अपने एसी कमरों तक महदूद बुद्धिजीवियों को समाज में लगातार बढ़ रही असमानता नज़र नहीं आती, लेकिन हम मेहनतकश लोग इसे अपने निजी अनुभवों से बख़ूबी जानते हैं। हम कारख़ाने में काम करते हों, आलीशान इमारतें बनाने का काम करते हों, घरों में काम करते हों, रेहड़ी-खोमचा लगाते हों या कहीं भी मेहनत-मज़दूरी करते हों, अपने रोज़मर्रा के जीवन में हम क़दम-क़दम पर इस असमानता को जीते हैं। ऊँची-ऊँची इमारतों में बने पूँजीपतियों और धन्नासेठों के महलों जैसे आलीशान घर और हमारे बदबूदार-घुटनभरे दड़बेनुमा कमरे समृद्धि के तलघर में नरक के अँधेरे की तरह हैं। हमारी हाडतोड़ मेहनत और उनकी अकल्पनीय अय्याशियाँ इस असमानता की जीती-जागती तस्वीर हैं। मोदी सरकार द्वारा बिना किसी तैयारी के जल्दबाज़ी में लागू किये गये लॉकडाउन के दौरान हमें और हमारे परिवारों को जिन भयानक दुःख-तकलीफ़ों का सामना करना पड़ा, उससे भी मौजूदा समाज की असमानता साफ़ नज़र आती है। जहाँ एक तरफ़ हम मज़दूरों को भूखे पेट दर-दर भटकने, सड़कों-पटरियों पर भूख या बीमारी से तड़प-तड़प कर मरने, पुलिस के डण्डे खाने और ज़िल्लत सहने के लिए छोड़ दिया गया, वहीं धन्नासेठों और उनकी औलादों को सभी सुख-सुविधाओं के साथ विशेष हवाई उड़ानों के ज़रिये विदेशों से लाया गया। इस असमानता की खाई को केवल आँकड़ों से महसूस नहीं किया जा सकता लेकिन फिर भी कुछ प्रातिनिधिक आँकड़ों से इस असमानता की तस्वीर समझने में मदद ज़रूर मिलती है।

हाल ही में कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस सम्बन्ध में दिलचस्प जानकारी जुटायी है। उन्होंने नेशनल स्टॉक एक्सचेंज के सूचकांक निफ़्टी 50 की सूची में शामिल 42 कम्पनियों की वेतन सम्बन्धी जानकारी इकट्ठा की है। इसके मुताबिक़, वित्तीय वर्ष 2020 के दौरान इन कम्पनियों के सबसे ऊपरी अधिकारियों जैसे सीईओ, मैनेजिंग डायरेक्टर आदि का औसत वेतन, इन्हीं कम्पनियों में काम करने वाले कर्मचारियों के औसत वेतन से 259 गुना था। मिसाल के लिए, इस सूची में शामिल कम्पनी हीरो मोटरकॉर्प के सीईओ को इस दौरान अपने कर्मचारियों के औसत वेतन का 752 गुना वेतन यानी हर महीने 7 करोड़ रुपये मिला था! ग़ौरतलब है कि यहाँ कर्मचारी का मतलब इन कम्पनियों में स्थायी रूप से काम करने वाले मैनेजरों, इंजीनियरों और प्रबन्धकीय व प्रशासकीय काम करने वाले अन्य लोगों से है, जिनका अपना वेतन भी हम मज़दूरों की मज़दूरी से कई गुना ज़्यादा होता है। इसलिए, आप ख़ुद ही समझ सकते हैं कि हमें मिलने वाली मज़दूरी के मुक़ाबले ये आँकड़ा कहाँ पहुँच जायेगा। इस सूची में हीरो मोटरकॉर्प, टेक महिन्द्रा, बजाज ऑटो, हिण्डाल्को इण्डस्ट्रीज़, आयशर मोटर्ज़, मारुति सुज़ुकी जैसी कम्पनियाँ भी शामिल हैं, जिन्हें हम मज़दूर, ख़ासकर ऑटोमोबाइल सेक्टर के मज़दूर, अच्छी तरह से जानते हैं। हम में से कितने ही मज़दूर इन या इनकी सहायक कम्पनियों में खटते हैं। और, दिनोरात खटने के बाद भी हम में से कितने मज़दूर होंगे जिन्हें महीनाभर जीतोड़ मेहनत करने के बदले 10,000 रुपये भी मिलते होंगे। नेशनल सैंपल सर्वे 2017-18 के एक आँकड़े के मुताबिक़ केवल 17 फ़ीसदी पुरुष मज़दूरों को 10,000 रुपये महीना से ज़्यादा मज़दूरी मिलती है। स्त्री मज़दूरों की हालत तो इससे भी बदतर है। वहीं दूसरी तरफ़, हमारी मेहनत से निचोड़े गये मुनाफ़े का बड़ा हिस्सा धन्नासेठों और इनके चाकरों की जेबों में चला जाता है, जिसके दम पर ये लोग हमारी ही पैदा की हुई दुनिया-जहान की सुख-सुविधाओं का लुत्फ़ उठाते हैं।

यही नहीं, कई कम्पनियाँ ऐसी भी हैं जिनका सीईओ ख़ुद उनका मालिक ही है, मसलन रिलायंस। रिलायंस का मालिक मुकेश अम्बानी इसका सीईओ भी है। ये धनपशु अपनी कम्पनी के मज़दूरों की मेहनत को लूटकर अकूत मुनाफ़ा तो हड़पता ही है, लेकिन उससे इसका पेट नहीं भरता, ये अपनी ही कम्पनी से बतौर सीईओ मोटी तनख़्वाह भी लेता है। इनकी विलासिता की अट्टालिका की एक-एक ईंट हमारे ख़ून-पसीने की बदौलत है, लेकिन इसका रत्तीभर हिस्सा भी हमें मयस्सर नहीं है। पूँजीपतियों के रक्तपिपासु कारख़ानों-कम्पनियों के शीर्ष प्रबन्धन में काम करने वाले सर्वश्रेष्ठ चाकर ही ये तरक़ीबें गढ़ते हैं कि कैसे हम मज़दूरों को कम से कम मज़दूरी में ज़्यादा से ज़्यादा निचोड़ा जा सके, कैसे इनकी कम्पनियों में एक ही मज़दूर से कई-कई मज़दूरों का काम लेकर मुनाफ़ा बढ़ाया जा सके, कैसे हम मज़दूरों को एकजुट होने से रोका जा सके, हमारी हड़तालों को कुचला जा सके और हमारे ही बनायी हुई चीज़ों को ज़्यादा से ज़्यादा दाम में बेचा जा सके। यही कारण है कि एक तरफ़ लॉकडाउन के दौरान गहराते आर्थिक संकट से बिलबिला रहा पूँजीपति वर्ग अपने कारख़ानों-कम्पनियों से लगातार मज़दूरों-कर्मचारियों की छँटनी कर रहा है, वहीं दूसरी तरफ़ इनके सर्वश्रेष्ठ चाकरों के पहले जैसे ही ठाठ हैं, बल्कि कई मामलों में तो इनके वेतन बढ़ ही रहे हैं।

पूँजीवादी थिंकटैंक ऑक्सफ़ैम इण्डिया का आँकड़ा भी बढ़ती असमानता की भयावह तस्वीर पेश करता है। इसकी जनवरी 2020 की रिपोर्ट के मुताबिक़ हमारे देश के सबसे अमीर 1 फ़ीसदी धन्नासेठों के पास नीचे के 70 फ़ीसदी लोगों की कुल सम्पत्ति की भी 4 गुना से ज़्यादा धन-दौलत है। इसी रिपोर्ट के अनुसार, हमारे देश की कुल सम्पदा का 70 फ़ीसदी हिस्सा ऊपर के 10 फ़ीसदी धन्नासेठों के हाथ में है। इसके बावजूद, ये पूँजीपति और इनके चाकर आर्थिक संकट का रोना रोते हुए अपनी "मैनेजिंग कमेटी" यानी सरकार से मदद की गुहार लगाते रहते हैं। 2014 से ही मोदी सरकार जी-जान से इनकी सेवा में जुटी हुई है। हमारी और हमारे पुरखों की मेहनत के पैसे से खड़े किये गये सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों को तो कौड़ियों के भाव पूँजीपतियों को बेचा ही जा रहा है। इसके साथ ही, पूँजीपतियों को लाखों करोड़ के बेलआउट पैकेज दिये जा रहे हैं। ये लाखों करोड़ रुपये कहाँ से आते हैं? ये लाखों करोड़ रुपये उन अप्रत्यक्ष करों से आते हैं, जो हमारी रोज़मर्रा की ज़रूरत की चीज़ों के दाम में जुड़े रहते हैं और यही सरकार की आमदनी का सबसे बड़ा स्रोत भी है।

यह है इस मानवद्रोही ढाँचे की असलियत। इसमें हर सुख-सुविधा, आलीशान घर, बेहतरीन स्कूल, वर्ल्ड क्लास अस्पताल, विलासिता की हर चीज़, सबकुछ पूँजीपतियों-धन्नासेठों और उनके परिवारों के लिए है। हम लोगों के लिए है बस बचपन से ही हाडतोड़ मेहनत और ज़िल्लत। और जब तक समाज के तमाम संसाधनों पर मुट्ठीभर लोगों का मालिकाना रहेगा तब तक हमारी हालत ऐसी ही रहेगी।

हमारे लिए यह भी समझना ज़रूरी है कि यह भयावह असमानता अपने-आप में समस्या की जड़ नहीं है, बल्कि असली समस्या के तमाम लक्षणों में से एक है। पूँजीवादी बुद्धिजीवी असमानता को ही समस्या की जड़ बताते हुए इसे कम करने के कुछ नुस्ख़े सुझाते रहते हैं। दरअसल, उनकी चिन्ता का कारण असमानता होता ही नहीं है। उन्हें डर सताता रहता है कि असमानता के इस क़दर बढ़ जाने से सालों से सुलग रहा जनता के ग़ुस्से का ज्वालामुखी कहीं फूट न पड़े। इसलिए, ये बुद्धिजीवी इसी ढाँचे में कुछ पैबन्दसाज़ी करके इसकी उम्र लम्बी करने की जुगत भिड़ाते हैं। मसलन, इनके अनुसार सबसे ज़्यादा अमीर लोगों पर टैक्स बढ़ा देना चाहिए और ग़रीबों को कुछ ख़ैरात बाँटनी चाहिए। लेकिन, हम मज़दूरों को ये भली-भाँति पता होना चाहिए कि बढ़ती असमानता का कारण मौजूदा सामाजिक-आर्थिक ढाँचा है और जब तक मुनाफ़ा आधारित मौजूदा ढाँचे को तबाह कर मज़दूर राज क़ायम नहीं हो जाता, इस बढ़ती असमानता से निजात नहीं मिल सकती बल्कि पूँजीपतियों-धन्नासेठों और मेहनतकशों के बीच की यह खाई और बढ़ती ही जायेगी।

मज़दूर राज में ही इस असमानता को ख़त्म करने का सिलसिला शुरू हो पायेगा। यानी समाजवाद, जिसमें समाज की सम्पदा पर मुट्ठीभर पूँजीपतियों का नहीं बल्कि मज़दूरों-मेहनतकशों का मालिकाना होगा। हालाँकि, समाजवादी समाज स्थापित होते ही असमानता रातों-रात ख़त्म नहीं हो जायेगी। असमानता की खाई को कुछ ही समय में काफ़ी हद तक कम कर दिया जायेगा। लेकिन, मानसिक और शारीरिक श्रम का भेद लम्बे समय तक रहेगा और लम्बी प्रक्रिया के बाद एक ऐसी मंज़िल आयेगी, जब हर कोई अपनी क्षमता के अनुसार काम करेगा और आवश्यकता के अनुसार हासिल करेगा। आज हम मज़दूरों को ऐसे ही समाज की स्थापना के लिए कमर कसनी होगी।

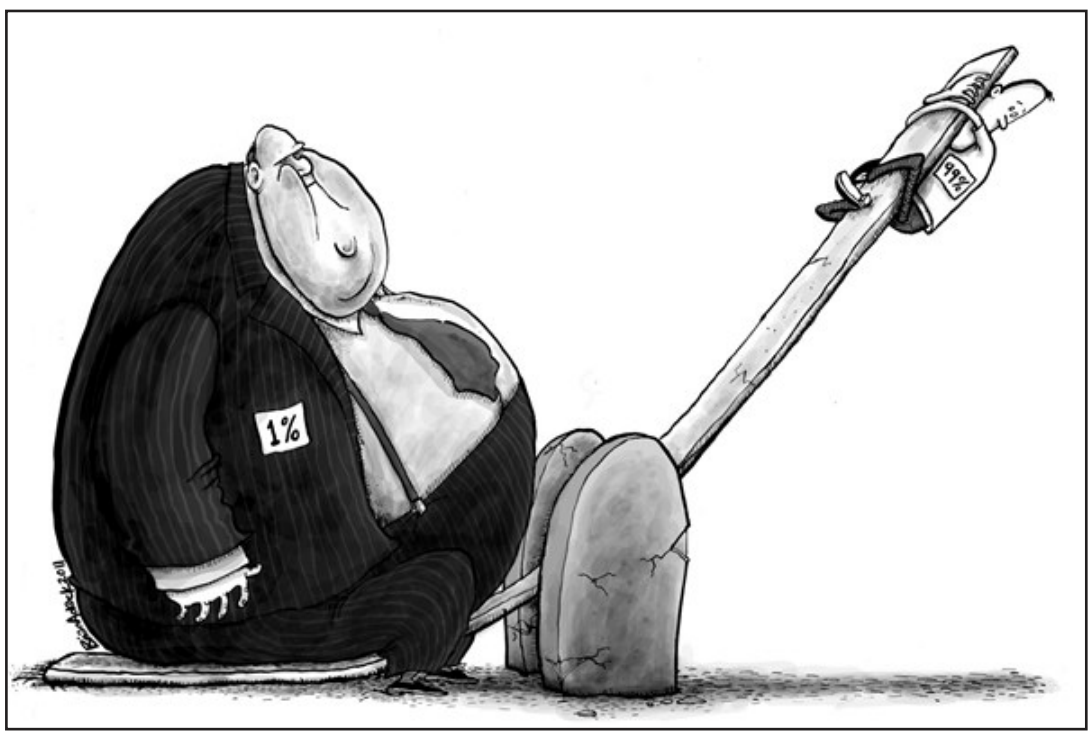

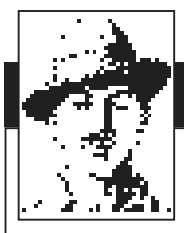

भगतसिंह ने कहा

क्रान्ति से हमारा अभिप्राय है – अन्याय पर आधारित मौजूदा समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन।

समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मज़दूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं। दूसरों के अन्नदाता किसान आज अपने परिवार सहित दाने-दाने के लिए मुहताज हैं। दुनिया भर के बाज़ारों को कपड़ा मुहैया करने वाला बुनकर अपने तथा अपने बच्चों के तन ढँकने-भर को भी कपड़ा नहीं पा रहा है। सुन्दर महलों का निर्माण करने वाले राजगीर, लोहार तथा बढ़ई स्वयं गन्दे बाड़ों में रहकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर जाते हैं। इसके विपरीत समाज के जोंक शोषक पूँजीपति ज़रा-ज़रा-सी बातों के लिए लाखों का वारा-न्यारा कर देते हैं।

यह भयानक असमानता और ज़बरदस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिये जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक क़ायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर रंगरेलियाँ मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खड्ड की कगार पर चल रहे हैं।

“लव जिहाद” का झूठ संघ परिवार के दुष्प्रचार का हथियार है!

ध्वस्त अर्थव्यवस्था, लूट की खुली छूट, बढ़ती बेरोज़गारी, महँगाई और महामारी जैसे मुद्दों से ध्यान भटकाने की एक और साज़िश

(पेज 1 से आगे)

इस समय देश की अर्थव्यवस्था अपने भयंकरतम दौर से गुज़र रही है। मोदी सरकार द्वारा देश पर लादे गये नोटबन्दी जैसे कुकर्मों के बाद से अर्थव्यवस्था अभी सम्भली भी नहीं थी कि अब कोरोना महामारी के दौर की मोदी सरकार की नाकामियों ने अर्थव्यवस्था का और भी बेड़ा गर्क कर दिया है। आर्थिक संकट की सबसे बड़ी मार देश की ग़रीब जनता के ऊपर पड़ रही है। लोगों के रोज़गार पर सरकारी पाटा चल रहा है, उनके तमाम तरह के हक़ लगातार छीने जा रहे हैं, टैक्सों का पहाड़ बढ़ता जा रहा है, महँगाई कमर तोड़ रही है, युवाओं के पास रोज़गार के अवसर नहीं हैं, शिक्षा व्यवस्था को बर्बाद किया जा रहा है और चिकित्सा व्यवस्था बेहाल होती जा रही है। कुल-मिलाकर जनता का जीवन नरक बना हुआ है।

दूसरी ओर देश के धन्नासेठ मन्दी के इस दौर में भी तिजोरियाँ भरने में लगे हुए हैं। ऐसा होगा भी कैसे नहीं, भाजपा के चुनावी अभियानों में पूँजीपति जमात रुपयों की बोरियों के जो मुँह खोलते हैं उस पैसे को इनके हक़ में नीतियाँ बनाकर सूद समेत लौटाना भी तो है। पूँजीपतियों की लूट जारी रह सके इसके लिए भाजपा की फ़ासीवादी सरकार जनता को बाँटने और झूठे मुद्दों पर उलझाये रखने के लिए किसी भी हद तक जा सकती है। और असल में संकट की यह स्थिति पूँजीवादी व्यवस्था के लिए कोई संकट न बन जाये इसीलिए जाति-मज़हब, मन्दिर-मस्जिद, गाय और लव जिहाद जैसे झूठे मुद्दों पर राजनीति की जाती है। जनता अपने जीवन की बर्बादी के असल कारणों को न पहचान जाये इसीलिए उसे बरगलाकर आपस में ही सिर फुटव्वल के लिए तैयार किया जा रहा है। लव जिहाद जैसा जुमला भी नफ़रत की राजनीति को बढ़ाने का एक हथियार मात्र ही है।

जाँच एजेंसियों को “लव जिहाद” जैसे संगठित षड्यंत्र का कोई भी मामला नहीं मिला

साम्प्रदायिक फ़ासीवादी ताक़तों के लिए मुस्लिमों के ख़िलाफ़ दुष्प्रचार करने के रूप में तमाम दूसरे झूठों की तरह “लव जिहाद” भी एक ख़ास जुमला रहा है। पिछले एक दशक से भी लम्बे समय से संघ परिवार और गोदी मीडिया “लव जिहाद” का झूठ फैलाने में लगे हुए थे। लेकिन अभी तक भी इस शब्द को वैधानिक और सरकारी तौर पर मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी। सबसे पहले 2007 के आसपास कर्नाटक और केरल में “लव जिहाद” के मुद्दे को उछाला गया था और 2009 में हिन्दू जनजागरण समिति ने इस झूठ को फैलाने के लिए संगठित प्रयास शुरू किये। 2014 के आम चुनाव से पहले 2013 में “लव जिहाद” के प्रचार का इस्तेमाल मुज़फ़्फ़रनगर में दंगे भड़काने के लिए किया और यहाँ संघ परिवार ने वोट बैंक के ध्रुवीकरण का सफल प्रयास किया। अब तक “लव जिहाद” जनता को बाँटने का एक सफल प्रयोग साबित हो चुका था।

लेकिन **विभिन्न जाँच एजेंसियाँ, विशेष पुलिस जाँच दल और कई न्यायालय तक शुरू से ही “लव जिहाद” जैसे किसी संगठित षड्यंत्र के अस्तित्व को नकारते रहे हैं। केरल पुलिस के डीजीपी जैकब पुन्नोस, केरल और कर्नाटक पुलिस, उत्तरप्रदेश पुलिस की एस. आई. टी. और तो और एन. आई. ए. (नेशनल इन्वेस्टीगेशन एजेंसी) जैसी सुरक्षा एजेंसी तक ने अपनी-अपनी तहक़ीक़ातों में अन्तरधार्मिक विवाहों के मद्देनज़र “लव जिहाद” जैसे किसी भी संगठित प्रयास से इन्कार किया है।** 4 फ़रवरी 2020 में भाजपा सरकार के गृह मंत्रालय से जब लव जिहाद के मामलों के विषय में पूछा गया था तो गृह राज्यमंत्री जी. किशन रेड्डी का संसद में बयान आया था कि लव जिहाद की कोई क़ानूनी परिभाषा नहीं है तथा किसी भी केन्द्रीय जाँच एजेंसी ने लव जिहाद का कोई मामला नहीं पाया है। इतना सब होने के बावजूद भी अब गलियों के मज़हबी शोहदों और नफ़रती चिण्टुओं वाली भाषा संवैधानिक पदों पर बैठे हुए लोग सरेआम बोल रहे हैं और “लव जिहाद” जैसे कोरे झूठ को सच की तरह पेश कर रहे हैं। सम्प्रदाय विशेष के ख़िलाफ़ मिथकों को यथार्थ बनाकर पेश करना हिटलर और मुसोलिनी के समय से ही फ़ासीवादियों का प्रमुख हथियार रहा है। संघ परिवार और इसकी फ़ासीवादी छत्रछाया में विकसित हुआ भाजपाई मानस “लव जिहाद” के नाम पर दो चीज़ें एक साथ करना चाहता है। पहली, लव जिहाद के झूठ के सहारे आम जनता का ध्यान जीवन से जुड़े असली मुद्दों से भटकाना, मुस्लिमों को निशाना बनाना, उनके प्रति आम ग़रीब हिन्दुओं के दिलों में नफ़रत का ज़हर घोलना और उन्हें प्रताड़ित करके हिन्दू हितरक्षक होने की अपनी फ़र्ज़ी छवि को चमकाना। और दूसरी, अपनी स्त्री-विरोधी सोच के तहत हिन्दू महिलाओं-युवतियों की स्वतंत्र इच्छा और जीवन साथी चुनने की आज़ादी को नकारना और इनसे महरूम करके इन्हें पूरी तरह से हिन्दुत्ववाद व पितृसत्ता की मातहती में तब्दील कर देना।

कैसे होती हैं अन्तरधार्मिक शादियाँ?

“लव जिहाद” का झूठ चूँकि हिन्दू-मुस्लिम के बीच होने वाली शादियों के सन्दर्भ में फैलाया जाता है तो पहले इसी सन्दर्भ में बात करते हैं।

हिन्दू-मुस्लिम पहचान रखने वालों के बीच आमतौर पर तीन तरह से अन्तरधार्मिक शादियाँ होती रही हैं। पहली, स्पेशल मैरिज एक्ट के तहत, जिसमें प्रेमी जोड़े में से किसी को भी अपना धर्म बदलने की ज़रूरत नहीं होती और कोर्ट में स्पेशल मैरिज एक्ट के तहत उनकी शादी हो जाती है। इसके अलावा धार्मिक रीति रिवाज़ से भी अन्तरधार्मिक शादियाँ होती हैं। धार्मिक शादियाँ चूँकि समान धर्म वालों के बीच ही हो सकती हैं इसलिए इनमें जोड़े में से किसी एक को अपना धर्म बदलना पड़ता है। इस्लाम धर्म के रीति रिवाज़ से होने वाली शादी में युवक या युवती धर्म परिवर्तन करके इस्लाम के रीतिरिवाज़ से शादी करते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार होने वाली शादी में प्रेमी जोड़े में से कोई एक अपना धर्म परिवर्तन करता है और आर्यसमाज या किसी हिन्दू रीति से शादी होती है।

उपरोक्त तीनों ही तरह से होने वाली शादियों के हज़ारों प्रमाण आसानी से मिल जायेंगे। ये इस बात के उदाहरण होते हैं कि आम तौर पर धर्म जनता के जीवन में अपने आप में कोई ख़ास मुद्दा नहीं बनता। एक साथ रहने वाले लोग नज़दीक भी आते हैं, उनके पूर्वाग्रह भी टूटते हैं और वे रोटी-बेटी के बन्धन में भी बँधते हैं। यह बेहद सामान्य प्रक्रिया है। और इससे व्यापक जनता को कोई परेशानी भी नहीं होती। परेशानी होती है केवल कुछ कट्टरपन्थियों, फ़ासीवादियों और उनके ज़हरीले प्रचार से डसे हुए लोगों को। स्पेशल मैरिज एक्ट, जिसके तहत विवाह करने पर किसी को अपना धर्म नहीं बदलना पड़ता, लोगों को वह थोड़ा जोखिमभरा लगता है। क्योंकि इसमें समस्या यह होती है कि लड़के-लड़की को शादी के एक महीना पहले से ही अपनी पहचान और फ़ोटो कोर्ट में सार्वजनिक करने पड़ते हैं जिसके चलते संघी गुण्डा गिरोह और प्रेमी जोड़े की राय से असहमत परिजनों को उन्हें प्रताड़ित करने का मौक़ा मिलता है। कहीं-कहीं परिजनों को कोई दिक़्क़त नहीं भी होती किन्तु वहाँ भी बजरंग दल, हिन्दू महासभा और इन्हीं जैसा कोई नफ़रती गिरोह युवक-युवती की जान के पीछे लगा रहता है। आम तौर पर चारों तरफ़ के दबाव से बचने का आसान रास्ता धार्मिक रीति से विवाह करना लगता है जिसमें अग्रिम तौर पर पहचान सार्वजनिक करने की ज़रूरत नहीं पड़ती और इसके बाद कोर्ट से भी शादी को रजिस्टर करा लिया जाता है।

टीना डाबी-अतहर ख़ान, करीना कपूर-सैफ़ अली ख़ान और न जाने कितने पहुँच वाले लोग तक जब “लव जिहाद” के आरोपों से नहीं बच पाये तो फिर साधनहीन लोगों की तो बिसात ही क्या है। ऐसे सैकड़ों मामले मिल जायेंगे जब अन्तरधार्मिक विवाह करने के या साथ रहने के इच्छुक प्रेमी युगलों को मौत के घाट उतार दिया गया। अब यदि तथाकथित लव जिहाद के नाम पर हरेक अन्तरधार्मिक विवाह में स्थानीय प्रशासन को पहचान के साथ अर्ज़ी देना लाज़िमी बना दिया जायेगा तो प्रेमी जोड़े की पहचान सार्वजनिक होने का ख़तरा और भी बढ़ जायेगा। जैसा कि उत्तरप्रदेश के नये बने क़ानून के तहत दो महीने पहले स्थानीय प्रशासन को सूचित करना होगा तथा शादी के लिए धर्मान्तरण साबित होने पर ग़ैरज़मानती धाराओं के तहत 10 साल तक की क़ैद का प्रावधान होगा। कुल-मिलाकर अब जीवनसाथी चुनने के हक़ को कुचलना और भी आसान हो जायेगा और तथाकथित लव जिहाद के नाम पर बने क़ानून के तहत किसी को भी निशाने पर लेना शासन-सत्ता और फ़ासीवादी-साम्प्रदायिक गिरोहों के रहमोकरम पर होगा।

“लव जिहाद” का जुमला अल्पसंख्यकों को निशाना बनाने और जनता को बाँटने की साज़िश का हिस्सा है

सच्चे मायने में लोकतांत्रिक और जनवादी राज्यसत्ता अपने सभी नागरिकों को बराबरी का दर्जा देती है। यह अन्तरजातीय व अन्तरधार्मिक विवाहों को प्रोत्साहन देती है तथा इसके मार्ग में रुकावट बनने वाले लम्पट तत्त्वों को दण्डित करती है। लेकिन भारत में इसका उल्टा हो रहा है। कहने को हमारा देश एक धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र है। धर्मनिरपेक्षता का असल मतलब होता है धर्म का राजनीति और सामाजिक जीवन से पूर्ण विलगाव लेकिन हमारे यहाँ सामाजिक जीवन को नरक बनाने के लिए धर्म का राजनीति में खुलकर इस्तेमाल होता आया है। फ़ासीवादी मोदी सरकार के राज में तो साम्प्रदायिक-फ़ासीवादी ज़हरख़ुरानी गिरोह को नफ़रत फैलाने और क़ानून हाथ में लेकर लिंचिंग करने का खुला लाइसेंस ही मिल गया है। एक आँकड़े के अनुसार देश में औसतन तक़रीबन 5.8 प्रतिशत अन्तरजातीय तो केवल 2.2 प्रतिशत अन्तरधार्मिक विवाह होते हैं। ऐसे में सोचा जा सकता है कि भाजपा और संघ परिवार इसके नाम पर वितण्डा खड़ा करके लोगों को मूर्ख ही बना रहे हैं। “लव जिहाद” के नाम पर लाये जाने वाले क़ानून न केवल अन्तरधार्मिक विवाहों को हतोत्साहित करेंगे बल्कि फ़ासीवादी गुण्डा गिरोह के सामने शिकार के माफ़िक़ प्रेमी जोड़ों को फेंकने का काम भी करेंगे। इसलिए हर जनवादी और धर्मनिरपेक्ष इन्सान को फ़ासीवादी सरकार के ऐसे किसी भी षड्यंत्र का विरोध करना चाहिए जो हमारे रहे-सहे जनवादी अधिकारों में सेंध लगाता हो।

“लव जिहाद” के नाम पर ज़हरख़ुरानी गिरोह की फ़ासीवादी साज़िश को नाकाम करो!

“लव जिहाद” के झूठ पर टिका कोई भी क़ानून न सिर्फ़ साम्प्रदायिक नफ़रत को बढ़ावा देने वाला होगा बल्कि यह सम्प्रदाय विशेष के ख़िलाफ़ दमन के एक हथियार के समान होगा। तथाकथित लव जिहाद के नाम पर बनने वाला यह क़ानून स्त्रियों के जीवन साथी चुनने की आज़ादी के ऊपर भी हमला होगा। यही नहीं इस तरह का कोई भी क़ानून देश के संविधान द्वारा प्रदत्त हमारे सीमित जनवादी हक़ों पर भी हमला होगा। संविधान में मौजूद सीमित जनवादी हक़ों की सुरक्षा करते हुए संविधान को अधिकाधिक जनवादी बनाये जाने की लड़ाई भी हमें जुझारू तरीक़े से लड़नी होगी।

तथाकथित लव जिहाद के नाम पर बनने वाले किसी भी क़ानून का आम जनता को पुरज़ोर विरोध करना चाहिए। इस बात की माँग की जानी चाहिए कि “लव जिहाद” जैसे जुमले उछालकर साम्प्रदायिक नफ़रत फैलाने वालों को कड़ी से कड़ी सज़ा मिले। धर्म को राजनीतिक और सामाजिक जीवन से अलग करके इसे व्यक्तिगत जीवन का मसला बनाया जाना चाहिए। **दो व्यक्तियों को चाहे वे किसी भी जाति-मज़हब के हों अपने जीवन का फ़ैसला करने का पूरा-पूरा अधिकार मिलना चाहिए। देश के युवाओं और आम जनता का यह फ़र्ज़ है कि झूठ और नफ़रत पर टिके “लव जिहाद” के नाम पर चलने वाले जैसे घृणित अभियान को सिरे से ख़ारिज करें।**

अन्त में, महान जर्मन कवि **बेर्टोल्ट ब्रेष्ट** की ये पंक्तियाँ कभी भूलनी नहीं चाहिए:

जिन्होंने नफ़रत फैलायी, क़त्ल किये
और ख़ुद ख़त्म हो गये,
नफ़रत से याद किये जाते हैं।
जिन्होंने मुहब्बत का सबक़ दिया
और क़दम बढ़ाये,
वो ज़िन्दा हैं,
मुहब्बत से याद किये जाते हैं।
जिन्होंने सही वक़्त का इन्तज़ार किया
और शक करते रहे,
वे आख़िर तक हाथ पर हाथ धरे
बैठे थे,
शक के कमज़ोर किलों में क़ातिलों
का इन्तज़ार
उनकी क़िस्मत बन गया।
रास्ते अलग-अलग और साफ़ हैं।
तुम्हें चुनना होगा
नफ़रत, शक और मुहब्बत के बीच।
तुम्हारी आवाज़ बुलन्द और साफ़
होनी चाहिए,
और क़दम सही दिशा में।

मेहनतकश अवाम की दुश्मन इस सरकार के ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग को एकजुट और आक्रामक प्रतिरोध के लिए तैयार करना होगा!

(पेज 1 से आगे)

है। पिछले साल भी दिल्ली, राजस्थान, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु सहित देश के विभिन्न हिस्सों में किसानों के जुझारू प्रदर्शन हुए थे। देश के कई हिस्सों में किसानों ने अपनी फ़सल बेचने की बजाय सड़कों पर ही फेंककर अपना विरोध दर्ज कराया था। गाँवों तक पूँजी की पैठ बढ़ने के साथ ही किसान आबादी का विभेदीकरण बढ़ रहा है और छोटे-मँझोले किसान मुनाफ़े की खेती में पिछड़ रहे हैं। कुलकों और धनी किसानों के हितों की नुमाइन्दगी करने वाली पार्टियाँ समर्थन मूल्य बढ़ाने और क़र्ज़-माफ़ी जैसी माँगों के इर्द-गिर्द छोटे-मझौले किसानों को पहले भी लामबन्द करती रही हैं जिसकी वजह से किसानों के प्रदर्शनों में भारी भीड़ होती रही है। मगर इन आन्दोलनों की माँगें पूरी तरह बड़े किसानों के हित वाली रही हैं। इन सवालों पर हम पहले भी विस्तार से लिख चुके हैं, और आगे भी लिखेंगे।

मज़दूर हड़ताल की माँगें और उसकी ख़बर चर्चा से ग़ायब

26 नवम्बर को ही शुरू हुए किसानों के दिल्ली मार्च और उसके दमन के शोर में मज़दूरों की देशव्यापी हड़ताल की ख़बर पूरी तरह दब गयी। हालाँकि मुख्यत: संसदमार्गी वाम पार्टियों से जुड़ी यूनियनों के आह्वान पर होने वाली ऐसी एकदिवसीय हड़ताल महज़ हर एक सालाना अनुष्ठान बन चुका है जिससे सरकार या पूँजीपतियों को ज़्यादा फ़र्क नहीं पड़ता, मगर अनेक क्रान्तिकारी संगठन भी इसमें भागीदारी करके मज़दूरों तक अपनी बात पहुँचाते हैं और एक व्यापक जुझारू संघर्ष का आह्वान करते हैं। मोदी सरकार की नीतियों की सबसे कमरतोड़ मार मज़दूरों पर ही पड़ी है। कोरोना के बाद लगाये गये लॉकडाउन ने करोड़ों मज़दूरों का काम छीन लिया है और जो काम पर हैं उन्हें भी कोरोना के बहाने तरह-तरह से लूटा और ठगा जा रहा है। ऐसे में मज़दूरों के ज़बर्दस्त एकजुट आक्रामक आन्दोलन की ज़रूरत है, मगर ऐसे अनुष्ठानों के सेफ़्टी वॉल्व के ज़रिये उनके असन्तोष को ठण्डा करने के अलावा ये संसदमार्गी पार्टियाँ और उनकी पिछलग्गू यूनियनें कुछ नहीं कर सकतीं। ये संसदीय लाल जमूरे तो अभी धनी किसानों के मंच पर दरी बिछाने और माइक सँभालने में ही लगे हुए हैं।

हर साल होने वाली एक या दो दिन की इन हड़तालों में देश के मज़दूर एक हद तक अपनी ताक़त दिखाते हैं लेकिन इससे पहले कि इस ताक़त से कुछ ठोस हासिल हो, मज़दूर वापस फ़ैक्टरियों-दफ़्तरों में चले जाते हैं और फिर से शोषण के चक्के में अपना हाड़-माँस गलाने लगते हैं। इस बार तो यह भी पिछले वर्षों की तुलना में काफ़ी कम रहा। इस तरह की हड़तालें इन केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों द्वारा की जाने वाली रस्मी क़वायद है जो मज़दूरों को अर्थवाद के जाल से बाहर नहीं निकलने देती। यह हड़ताल जैसे मज़दूरों के शक्तिशाली औज़ार को भी धारहीन बनाने का काम करती है।

क्या इस हड़ताल के बाद राज्य सरकारें तय न्यूनतम वेतन लागू करने लगेंगी? या मज़दूरों को बढ़े हुए रेट से वेतन मिलने लगेगा? ठेका प्रथा ख़त्म हो जायेगी? फ़ैक्टरियों के हालात सुधार जायेंगे? कोरोना में जिन लोगों को काम से निकालकर आधी मज़दूरी पर फिर से रखा गया है, उनके साथ यह ठगी बन्द हो जायेगी? ऐसा कुछ नहीं होने वाला है। यह बात हम और आप अपनी ज़िन्दगी के हालात को देखकर अच्छी तरह समझते हैं। ठेका प्रथा का दंश झेल रहे मज़दूरों के एक सशक्त आन्दोलन को खड़ा करने या मज़दूरों के अधिकारों को हासिल करने के लिए कोई प्रोग्राम लेने की बजाय ऐसी ग़द्दार ट्रेड यूनियनें एक दिन की हड़ताल की नौटंकी से मज़दूरों के ग़ुस्से को शान्त करने की क़वायद में जुटी हुई हैं। 1990 में नवउदारवाद और निजीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद से दो दर्जन बार देश के स्तर पर 'भारत बन्द', 'आम हड़ताल', 'प्रतिरोध दिवस' आदि ये केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें आयोजित करती आयी हैं, लेकिन इसी दौर में एक के बाद मज़दूरी-विरोधी नीतियाँ बनती रही हैं और उनके अधिकार छीने जाते रहे हैं।

जब पहले से ही लचर श्रम क़ानूनों को और भी कमज़ोर करने के संशोधन संसद में पारित किये जा रहे होते हैं, तब ये ट्रेड यूनियनें और इनकी राजनीतिक पार्टियाँ कुम्भकर्ण की नींद सोये होते हैं। सोचने की बात है कि सीपीआई और सीपीएम जैसे संसदीय वामपन्थियों समेत सभी चुनावी पार्टियाँ संसद और विधानसभाओं में हमेशा मज़दूर विरोधी नीतियाँ बनाती आयी हैं, तो फिर इनसे जुड़ी ट्रेड यूनियनें मज़दूरों के हक़ों के लिए कैसे लड़ सकती हैं? पश्चिम बंगाल में टाटा का कारख़ाना लगाने के लिए ग़रीब मेहनतकशों का क़त्लेआम हुआ तो सीपीआई व सीपीएम से जुड़ी ट्रेड यूनियनों ने इसके ख़िलाफ़ कोई आवाज़ क्यों नहीं उठायी? जब कांग्रेस और भाजपा की सरकारें मज़दूरों के हक़ों को छीनती हैं तो भारतीय मज़दूर संघ, इण्टक आदि जैसी यूनियनें चुप्पी क्यों साधे रहती हैं? दरअसल, केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें इस व्यवस्था की रक्षक हैं जो इस तरह के प्रदर्शनों से मज़दूरों का ग़ुस्सा शान्त करने का काम करती हैं। दूसरी बात यह कि 5 करोड़ संगठित पब्लिक सेक्टर के मज़दूरों की सदस्यता वाली ये यूनियनें इन मज़दूरों के हक़ों को ही सबसे प्रमुखता से उठाती हैं। असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों की माँग इनके माँगपत्रक में निचले पायदान पर जगह पाती है और इस क्षेत्र के मज़दूरों का इस्तेमाल महज़ भीड़ जुटाने के लिए किया जाता है। देश की 52 करोड़ खाँटी मज़दूर आबादी में 84 फ़ीसदी आबादी असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों की हैं, परन्तु ये न तो उनके मुद्दे उठाती हैं और न ही उनके बीच इनका कोई आधार है। तीसरी बात अगर यह वाक़ई न्यूनतम वेतन को नयी दर से लागू करवाना चाहती हैं और केन्द्र व राज्य सरकार के मज़दूर विरोधी संशोधनों को सच में वापस करवाने की इच्छुक हैं तो क्या इन्हें इस हड़ताल को अनिश्चितकाल तक नहीं चलाना चाहिए? यानी कि तब तक जब तक सरकार मज़दूरों से किये अपने वादे पूरे नहीं करती और उनकी माँगों के समक्ष झुक नहीं जाती है। मज़दूर तो इसके लिए तैयार होते हैं, परन्तु ये यूनियनें ऐसा कभी नहीं करेंगी!

ऐसे में यह सवाल बनता है कि मज़दूर वर्ग की रणनीति क्या होनी चाहिए? 'मज़दूर बिगुल' के पन्नों पर हम लगातार यह कहते आये हैं कि फ़ासीवाद एक व्यापक सामाजिक आधार वाला धुर प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है जो सत्ता में न रहने पर भी समाज में मौजूद रहता है। "हिन्दू राष्ट्र" की तमाम बातों के पीछे इसका असली मक़सद अपने पूँजीपति मालिकों की सेवा और इसके लिए मज़दूरों को लूटने-खसोटने के सारे इन्तज़ाम करना है। इसका मुँहतोड़ जवाब देने और इसे पीछे धकेलने का काम एक ताक़तवर कैडर-आधारित मज़दूर आन्दोलन और उसकी अगुवाई में ग्रासरूट स्तर से खड़ा हुआ व्यापक सामाजिक आधार वाला आन्दोलन ही कर सकता है। लेकिन यह सच्चाई है कि आज मज़दूर आन्दोलन बुरी तरह टूट-फूट और बिखराव का शिकार है। मज़दूरों का भारी हिस्सा पस्ती और निराशा में डूबा है। राजनीतिक चेतना की कमी के चलते मेहनतकशों का एक हिस्सा भी फ़ासिस्टों के प्रचार के प्रभाव में है। यहाँ तक कि कोरोना के दौर में भुखमरी और बेकारी झेलने के बाद भी उनमें फ़ासिस्टों के प्रति मुखर आक्रोश और नफ़रत की कमी है।

इस स्थिति के लिए उन संशोधनवादियों, संसदमार्गी नकली कम्युनिस्टों और सामाजिक जनवादियों को कभी माफ़ नहीं किया जा सकता, जिन्होंने पिछले कई दशकों के दौरान मात्र आर्थिक संघर्षों और संसदीय विभ्रमों में उलझाकर मज़दूर वर्ग की वर्गचेतना को कुण्ठित करने का काम किया है। ये संशोधनवादी फ़ासीवाद-विरोधी संघर्ष को सिर्फ़ चुनावी हार-जीत के रूप में ही प्रस्तुत करते रहे, या फिर सड़कों पर बस कुछ प्रतीकात्मक विरोध-प्रदर्शनों तक सीमित रहे। दरअसल ये संशोधनवादी आज फ़ासीवाद का जुझारू और कारगर विरोध कर ही नहीं सकते, क्योंकि ये "मानवीय चेहरे" वाले नवउदारवाद का और कीन्सियाई नुस्ख़ों वाले "कल्याणकारी राज्य" का विकल्प ही सुझाते हैं। आज पूँजीवादी ढाँचे में चूँकि इस विकल्प की सम्भावनाएँ बहुत कम हो गयी हैं, इसलिए पूँजीवाद के लिए भी ये संशोधनवादी काफ़ी हद तक अप्रासंगिक हो गये हैं। बस इनकी एक ही भूमिका रह गयी है कि ये मज़दूर वर्ग को अर्थवाद और संसदवाद के दायरे में क़ैद रखकर उसकी वर्गचेतना को कुण्ठित करते रहें और वह काम ये करते रहेंगे। जब फ़ासीवादी आतंक चरम पर होगा तो ये संशोधनवादी चुप्पी साधकर बैठ जायेंगे। अतीत में भी बाबरी मस्जिद गिराये जाने के आगे-पीछे फैले साम्प्रदायिक उन्माद का सवाल हो या फिर गुजरात में हफ़्तों चले बर्बर नरसंहार का, ये बस संसद में गत्ते की तलवारें भाँजते रहे और टीवी और अख़बारों में बयानबाज़ियाँ करते रहे। ना इनके कलेजे में इतना दम है और ना ही इनकी ये औक़ात रह गयी है कि ये फ़ासीवादी गिरोहों और लम्पटों के हुजूमों से आमने-सामने की लड़ाई लड़ने के लिए लोगों को सड़कों पर उतार सकें। बंगाल और त्रिपुरा में लोगों ने देख लिया है कि ये तो दशकों तक सत्ता में रहने के बावजूद अपने कार्यकर्ताओं तक को फ़ासीवादियों की गोद में जाने से नहीं रोक सकते।

पूँजीवादी संकट का यदि समाजवादी समाधान प्रस्तुत नहीं हो पाता तो फ़ासीवादी समाधान सामने आता ही है। इस बात को इतिहास ने पहले कई बार साबित किया है। फ़ासीवाद हर समस्या के तुरत-फुरत समाधान के लोकलुभावन नारों के साथ तमाम मध्यवर्गीय जमातों, छोटे कारोबारियों, सफ़ेदपोश कर्मचारियों, छोटे उद्यमियों और मालिक किसानों को लुभाता है। उत्पादन प्रक्रिया से बाहर कर दी गयी मज़दूर आबादी का एक बड़ा हिस्सा भी फ़ासीवाद के झण्डे तले गोलबन्द हो जाता है जिसके पास वर्ग चेतना नहीं होती और जिनके जीवन की परिस्थितियों ने उनका लम्पटीकरण कर दिया होता है। निम्न मध्यवर्ग के बेरोज़गार नौजवानों और पूँजी की मार झेल रहे मज़दूरों का एक हिस्सा भी अन्धाधुन्ध प्रचार के कारण मोदी जैसे नेताओं द्वारा दिखाये सपनों के असर में आ जाता है। जब कोई क्रान्तिकारी सर्वहारा नेतृत्व उसकी लोकरंजकता का पर्दाफ़ाश करके सही विकल्प प्रस्तुत करने के लिए तैयार नहीं होता तो फ़ासीवादियों का काम और आसान हो जाता है। आरएसएस जैसे संगठनों द्वारा लम्बे समय से किये गये प्रचार से उनको मदद मिलती है। भूलना नहीं चाहिए कि संघियों के प्रचार तंत्र का असर मज़दूर बस्तियों तक में है। बड़े पैमाने पर संघ के वीडियो और ऑडियो टेप मज़दूरों की एक आबादी को भी प्रभावित करते हैं। बहुत-सी जगहों पर ग़रीबों की कालोनियों और मज़दूर बस्तियों में भी संघ की शाखाएँ लगती हैं। गोदी मीडिया का अन्धाधुन्ध झूठा प्रचार भी मज़दूरों को प्रभावित करता है।

फ़ासीवाद निम्न-बुर्जुआ वर्ग का घोर प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन होता है जिसके पास एक सामाजिक आधार और काडर फ़ोर्स होती है। इसका जवाब अमन-शान्ति और मेलमिलाप के नारों से नहीं बल्कि मज़दूर वर्ग और नौजवानों के जुझारू दस्तों द्वारा ही दिया जा सकता है। इस प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन के बरक्स एक जुझारू प्रगतिशील आन्दोलन खड़ा करके ही इसका मुक़ाबला किया जा सकता है। क्रान्तिकारी वाम की शक्तियाँ आज बिखरी हुई हैं। एक हिस्सा कठमुल्लेपन, अतिरेकपन्थ और दुस्साहसवाद का शिकार है तो एक हिस्सा सच्चाइयों से आँख चुराते-चुराते वस्तुगत तौर पर अवसरवाद और बिखराव का शिकार है। जो शक्तियाँ संजीदगी से सोच रही हैं उन्हें ताक़त कम या अधिक होने के बारे में नहीं सोचना चाहिए बल्कि सामने मौजूद कार्यभार की गम्भीरता को समझकर अपने आप को इस काम में झोंक देना होगा। उन्हें मज़दूरों के बीच अपने आर्थिक-वैचारिक-सांस्कृतिक काम को बढ़ाते हुए मज़दूरों के जुझारू दस्ते तैयार करने की शुरुआत करनी होगी। साथ ही निम्न मध्य वर्ग के नौजवानों के बीच संघी प्रचार की काट करते हुए उन्हें साथ लेने के लिए सघन वैचारिक-सांस्कृतिक-आन्दोलनकारी काम करना होगा। मध्य वर्ग के जो लोग घरों में दुबक जाने वाले सेक्युलर नहीं हैं, उन्हें भी साथ में लेना होगा।

आने वाला समय मेहनतकश जनता और क्रान्तिकारी शक्तियों के लिए कठिन और चुनौतीपूर्ण है। हमें राज्यसत्ता के दमन का ही नहीं, सड़कों पर फ़ासीवादी गुण्डा गिरोहों का भी सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ेगा। रास्ता सिर्फ़ एक है। हमें ज़मीनी स्तर पर ग़रीबों और मज़दूरों के बीच अपना आधार मज़बूत बनाना होगा। बिखरी हुई मज़दूर आबादी को जुझारू यूनियनों में संगठित करने के अतिरिक्त उनके विभिन्न प्रकार के जनसंगठन, मंच, जुझारू स्वयंसेवक दस्ते, चौकसी दस्ते आदि तैयार करने होंगे। आज जो भी वाम जनवादी शक्तियाँ वास्तव में फ़ासीवादी चुनौती से जूझने का जज़्बा और दमखम रखती हैं, उन्हें छोटे-छोटे मतभेद भुलाकर एकजुट हो जाना चाहिए। हमें भूलना नहीं चाहिए कि इतिहास में मज़दूर वर्ग की फ़ौलादी मुट्ठी ने हमेशा ही फ़ासीवाद को चकनाचूर किया है, आने वाला समय भी इसका अपवाद नहीं होगा। मगर इसके लिए हमें अपनी भरपूर ताक़त के साथ तैयारी में जुटना होगा।

मोदी की स्वच्छता अभियान की लफ़्फ़ाज़ी और स्कूलों में शौचालय बनाने का घोटाला

– प्रेम प्रकाश

देश में सरकारी विद्यालयों में शौचालयों के निर्माण पर भारत के नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (सी.ए.जी.) द्वारा संसद में प्रस्तुत रिपोर्ट में भयंकर अनियमितता और घोटाला सामने आया है। 23 सितम्बर 2020 को संसद में पेश इस रिपोर्ट में केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों द्वारा सरकारी विद्यालयों में बनाये गये शौचालयों और उसमें हुए घोटाले को देखकर यह बात एक बार और पुख़्ता हो जाती है कि किस तरह से सार्वजनिक सम्पदा (जो देश की मज़दूर आबादी की मेहनत से ही पैदा होती है) की लूट बदस्तूर जारी है। **मोदी सरकार की तमाम लफ़्फ़ाज़ी के बावजूद जनता के नाम पर जारी योजनाओं में पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरी जा रही हैं और दिन पर दिन ग़रीबों के बेटे-बेटियों के हक़ों पर डाकेजनी बढ़ती ही जा रही है।**

सी.ए.जी. द्वारा भारत सरकार को यह रिपोर्ट 2 जनवरी 2020 को भेजी गयी थी जोकि संसद में 23 सितम्बर 2020 को पेश की गयी। इस रिपोर्ट में सरकारी स्कूलों में केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों द्वारा बनाये गये शौचालयों की जाँच और उससे निकले निष्कर्षों को समझना ज़रूरी है जिससे विकास और जनता का नाम लेकर खेले जाने वाले लूट के इस खेल की हक़ीक़त को जाना जा सके।

शिक्षा का अधिकार क़ानून-2009 के तहत स्कूलों में लड़कों और लड़कियों के लिए अलग-अलग शौचालय के प्रावधान की बात कही गयी है। प्रधानमंत्री ने 15 अगस्त 2014 को घोषणा की कि देश में एक वर्ष के अन्दर प्रत्येक स्कूल में लड़कों और लड़कियों के लिए अलग-अलग शौचालय होगा। इसके बाद 1 सितम्बर 2014 को मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने 'स्वच्छ विद्यालय अभियान' की शुरुआत की। मंत्रालय के अनुसार इस काम के लिए 53 केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों की भागीदारी से कुल 1,40,997 शौचालयों का निर्माण किया गया। विद्युत मंत्रालय, कोयला मंत्रालय तथा पेट्रोलियम एवं प्राकृतिक गैस मंत्रालय के अधीन आने वाले सात केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों (एन.टी.पी.सी., पी.जी.सी.आई.एल., एन.एच.पी.सी., पी.एफ़.सी., आर.ई.सी., ओ.एन.जी.सी. तथा सी.आई.एल.) ने कुल 1,30,703 शौचालयों के निर्माण की बात कही जिसकी कुल लागत 2162 करोड़ रुपये है। सी.ए.जी. द्वारा इन शौचालयों के लेखा परीक्षण के लिए 15 राज्यों के 2048 स्कूलों के 2695 शौचालयों का नमूना सर्वेक्षण किया गया।

सी.ए.जी. की रिपोर्ट से यह पता चलता है कि 3.08 प्रतिशत शौचालयों का निर्माण ही नहीं किया गया। जिन शौचालयों के निर्माण का दावा स्वयं इन सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों द्वारा किया गया उनमें से 7.65 प्रतिशत शौचालयों का निर्माण सम्बन्धित स्कूलों में हुआ ही नहीं तथा 3.29 प्रतिशत शौचालयों का निर्माण आधा-अधूरा ही हुआ। सर्वे में यह बात सामने आयी कि 27 प्रतिशत स्कूलों में लड़कों तथा लड़कियों के लिए अलग-अलग शौचालयों के निर्माण का लक्ष्य पूरा नहीं हुआ। जिन शौचालयों का निर्माण हुआ उनमें से 30 प्रतिशत प्रयोग में ही नहीं थे जिनका मुख्य कारण शौचालयों का टूटा होना, पानी का अभाव एवं उन्हें अन्य कार्य के लिए उपयोग में लाना शामिल है। 72 प्रतिशत शौचालयों में निरन्तर पानी की सुविधा नहीं थी। चार सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों द्वारा बनाये गये 79 प्रतिशत शौचालयों में पानी की सुविधा नहीं थी क्योंकि शौचालयों में लगातार पानी देने की व्यवस्था की बात डिज़ाइन में ही नहीं रखी गयी थी। जिन सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों ने पानी के लिए योजना बनाई थी उन्होंने भी 46 प्रतिशत शौचालयों में लगातार पानी उपलब्ध कराने की कोई व्यवस्था नहीं की थी।

सहज ही समझा जा सकता है कि **अगर शौचालयों में पानी की सुविधा ही नहीं होगी तो वे किस काम के? जो बात सामान्य बोध से किसी भी इन्सान को समझ आ जायेगी वह बात शौचालय निर्माण करने वालों को क्यों नहीं आयी? इतने दिनों तक काम होता रहा तो क्या निर्माण के दौरान कोई जाँच नहीं की गयी? दरअसल इस पूरी निर्माण प्रक्रिया में बच्चों को सुविधा देना नहीं बल्कि असली लक्ष्य सार्वजनिक धन की लूट था।** वरना ऐसा कैसे हो सकता है कि लगभग दो-तिहाई शौचालयों में पानी की समुचित व्यवस्था ही आँखों से ओझल हो जाये।

स्वच्छ विद्यालय अभियान पुस्तिका के अनुसार शौच के बाद हाथ धोने को ज़रूरी बताते हुए इसे स्वच्छता एवं स्वास्थ्य के लिए ज़रूरी बताया गया है परन्तु 55 प्रतिशत शौचालयों में हाथ धोने की सुविधा या वाश बेसिन उपलब्ध नहीं थी। कुछ शौचालयों का निर्माण स्थायी प्रकृति का किया गया तथा कुछ शौचालयों का निर्माण अस्थायी या सचल प्रकृति का किया गया। अस्थायी/सचल प्रकृति के शौचालयों में से 85 प्रतिशत शौचालय टूटे होने या सीवर के गड्ढे की साफ़-सफ़ाई नहीं होने से प्रयोग करने लायक ही नहीं थे। कई शौचालय तो इतने छोटे बनाये गये थे या ग़लत तरीक़े से बनाये गये थे कि उनमें अन्दर जाया ही नहीं जा सकता था। कई शौचालय में बच्चों के प्रवेश के लिए पहुँच रैम्प या सीढ़ी ही नहीं बनायी गयी थी। कुछ शौचालय ऐसे थे जिनकी छतों का निर्माण ही नहीं हुआ था।

शौचालय निर्माण में कई काम राज्य सरकार की एजेंसियों को नामांकन के आधार पर दिये गये जो कि केन्द्रीय सतर्कता आयोग (सी.वी.सी.) के दिशानिर्देशों का उल्लंघन है। इसकी वजह से कुल 49.30 करोड़ रुपये का अतिरिक्त ख़र्च आया। सी.ए.जी. द्वारा जारी 46 पेज की इस रिपोर्ट को देखकर ऐसा लगता है कि जैसे यह लूट, तोड़फोड़ तथा अव्यवस्था के अपराध की कोई रिपोर्ट हो। इस रिपोर्ट के साथ संलग्न तस्वीरों में एक-एक तस्वीर ऐसी है जो ख़ुद-ब-ख़ुद सरकारी विद्यालयों में शौचालय निर्माण में हुए घोटाले की दास्तान कहती है। प्रधानाध्यापक, प्राथमिक विद्यालय, छोटी चक, गोगरी (द.), खगड़िया का बयान है – "प्र. (प्राथमिक) विद्यालय में दो शौचालय वर्ष 2012-13 में सरकारी फ़ण्ड से बनाया। एन.टी.पी.सी. द्वारा विद्यालय में किसी भी प्रकार का शौचालय का निर्माण स्वच्छ भारत अभियान के अन्तर्गत नहीं किया गया है तथापि बी.आर. सी. के कहने पर मैंने शौचालय के भवन पर 'एन.टी.पी.सी. के सौजन्य से बनवाया गया' लिखवा दिया जबकि एन.टी.पी.सी. द्वारा विद्यालय को इस सम्बन्ध में कोई भी राशि नहीं दिया गया।" स्पष्ट है कि कई मामले ऐसे हैं जहाँ शौचालय का निर्माण हुआ ही नहीं और काग़ज़ पर निर्माण दिखाकर पैसा हजम कर लिया गया।

देश के मेहनतकश से हर सूरत में पाई-पाई निचोड़ने वाली मोदी सरकार किसी भी सूरत में पूँजीपतियों की तिजोरियाँ भरने से नहीं चूकती। विकास के नाम पर एवं जनता के नाम पर घोषणाएँ की जाती हैं परन्तु वास्तव में जनता के पैसे की लूट को अंजाम दिया जाता है।

सरकारी स्कूलों में शौचालय के निर्माण का मुद्दा कुछ लोगों को कम महत्वपूर्ण लग सकता है परन्तु यह इस देश के आम आदमी से जुड़ा मामला है। **यह न केवल सार्वजनिक धन के डाकेजनी का मामला है वरन ग़रीब जनता के बेटे-बेटियों के सपनों और भविष्य से जुड़ा मुद्दा है।** ग़रीब आदमी भले ही इस असमानता और आसमान छूती महँगाई और बेरोज़गारी के कारण अपने बच्चों को डॉक्टर व इंजीनियर बनाने का सपना नहीं देख सकता परन्तु वह अपने बच्चों को पढ़ाना ज़रूर चाहता है। आज भी एक आम आदमी शिक्षा को ही अपने बच्चों के भविष्य को सँवारने का एक ज़रिया मानता है। उत्तर प्रदेश से दिल्ली तक और देश के अन्य भागों में कई स्कूलों में पढ़ने वाले लड़के-लड़कियाँ स्कूल में शौचालय नहीं होने या होने पर भी उपयोग हेतु रखरखाव न होने, पानी की व्यवस्था न होने के कारण थोड़े समय बाद स्कूल से घर लौट आने को विवश हैं।

नौजवान भारत सभा द्वारा दिल्ली में स्कूल बचाओ अभियान के तहत कुछ साल पहले किये गए सर्वेक्षणों में यह बात हमारे ख़ुद के अनुभव का हिस्सा है कि कई स्कूलों में शौचालयों के नहीं होने या ख़राब होने के कारण लड़कियों को पेशाब रोककर स्कूल में रहना पड़ता है और उन्हें मध्याह्न से पहले ही स्कूल छोड़ना पड़ता है। स्कूलों में पानी युक्त शौचालय की व्यवस्था शिक्षा से अभिन्न रूप से जुड़ी है और यह इस देश के मेहनतकशों के बच्चों के भविष्य से जुड़ी है। सरकारी स्कूलों में शौचालयों के निर्माण में भयंकर लापरवाही यह दिखाती है कि मोदी सरकार ग़रीबों और मेहनतकशों को न सिर्फ़ बेरोज़गारी और भुखमरी दे रही है वरन उसके बच्चों के शिक्षा और भविष्य से भी खेल रही है। अपनी जद्दोजहद भरी जिन्दगी के बीच हमें इस बात पर सोचना ही होगा कि पूँजी द्वारा शोषण, अपनी कमायी की लूट, अपने को जानवर समझे जाने और अपने बच्चों के जिन्दगी के साथ खिलवाड़ हम कब तक बर्दाश्त करेंगे?

भारत में कोरोना की दूसरी लहर, टीकाकरण के हवाई किले और मोदी सरकार की शगूफ़ेबाज़ी

(पेज 16 से आगे)

का वही पुराना जतन।

यह भी संयोग ही रहा कि जब बिहार चुनाव का माहौल बन रहा था उसके पहले कुछ फ़ार्मा कम्पनियाँ टीके के तीसरे चरण का परीक्षण कर रही थीं। तब विशेषज्ञों ने यह सम्भावना जतायी थी कि 2021 के शुरुआती महीनों में टीके की सीमित ख़ुराकें उपलब्ध हो सकती हैं। मोदी की भाजपाई सरकार ने टीकाकरण की इस सम्भावना को लपक लिया, और बिहार में जब चुनावी प्रचार शुरू हुआ, तो मानो बिल्ली के भाग्य से छींका फूटा। चुनावी सभाओं में भाजपाई नेताओं ने अपने सार्वजनिक मंचों से बिहारी जनता को प्राथमिकता में टीका उपलब्ध कराने का ऐलान किया। देखा जाये तो मोदी के नेतृत्ववाली भाजपा सरकार की ज़िम्मेदारी पूरे देश की जनता के प्रति है लेकिन अपनी पार्टी के टुच्चे फ़ायदे के लिए भाजपाइयों ने टीकाकरण को महज़ एक चुनावी हथकण्डा बना डाला था। समझा जा सकता है कि इस महामारी को लेकर मोदी और उनके सिपाहसालार वास्तव में कितने गम्भीर हैं।

इधर एक दिलचस्प बात हुई है। मोदी जी कोरोना टीके को लेकर काफ़ी व्यस्त नज़र आ रहे हैं। पिछले दिनों उन्होंने पुणे के सीरम इंस्टीच्यूट ऑफ़ इण्डिया, हैदराबाद के भारत बायोटेक फ़ैसिलिटी और अहमदाबाद के ज़ाइडस बायोटेक पार्क का दौरा किया। टीकों के परीक्षण में लगे इन तीन संस्थानों को वे राय मशविरा देने गये थे। ऐसा ख़ुद उन संस्थानों के मुख्य अधिकारियों का कहना है। लोगों तक यह महत्वपूर्ण सूचना पहुँचने में कहीं कोई कमी न रह जाये इसलिए मोदी ने इस ख़बर को फ़ोटो सहित ट्वीट भी कर दिया। ज़ाहिर है मीडिया में इसका ख़ूब प्रचार हुआ और टीके को लेकर मोदी जी के सरोकार से बहुतेरे लोग प्रभावित भी हुए। परन्तु असलियत क्या है इसकी पड़ताल भी ज़रूरी है। यहाँ सबसे अहम सवाल तो यही उठता है कि टीके की शुरूआती ख़ुराकें यदि जल्दी आ भी जायें तो मोदी सरकार के पास उसे लोगों तक पहुँचाने की क्या ठोस योजना है! इतने बड़े पैमाने पर टीकाकरण के लिए क्या ज़रूरी ढाँचे को तैयार कर लिया गया है? यह बात तो बिल्कुल आइने की तरह साफ़ है कि कोरोना से संक्रमित लगभग 1 करोड़ लोगों तक सिर्फ़ इसलिए नहीं पहुँचा जा सका था क्योंकि सरकार के पास संसाधनों और स्वास्थ्यकर्मियों की बेहद कमी रही। डॉक्टरों की संख्या भी ज़रूरत से काफ़ी कम है। इस कमी को सरकारी स्तर पर दूर करने का कोई प्रयास तो अबतक कहीं नज़र नहीं आता। अब ऐसी स्थिति में अगर टीकाकरण के लिए एक अरब तीस करोड़ आबादी तक पहुँचना है तो सरकार इसके लिए कौन सा उपाय अपनायेगी, यह जानना कम दिलचस्प न होगा। जब पोलियो का टीका जिसे सिर्फ़ बच्चों तक ही पहुँचाना था, उसे पूरा करने में कई वर्ष लग गये थे तो सोचा जा सकता है कि सीमित संसाधनों के साथ कोरोना के टीकों को पूरी आबादी तक पहुँचाने में दसियों वर्ष लग जायेंगे, शायद इससे भी ज़्यादा, और तब तक बाक़ी लोगों के सिर पर मौत का साया मँडराता रहेगा।

इसके अलावा सरकार को टीकाकरण के पहले टीकों को -70 डिग्री तापमान पर रखने की देशव्यापी व्यवस्था करनी होगी। अभी तक होनेवाली बीमारियों के टीकों के लिए -30 डिग्री तक का तापमान काफ़ी था। दूसरे, कोरोना के टीके चूँकि विशेष प्रकार के टीके हैं, इसलिए डाक्टरों को विशेष रूप से प्रशिक्षित करने की ज़रूरत पड़ेगी। परन्तु इस नज़रिये से अभी तक न तो नयी नियुक्तियाँ हुई हैं, न मौजूदा चिकित्साकर्मियों के लिए किसी प्रकार का प्रशिक्षण शुरू किया गया है और न ही टीकों को कम तापमान पर रखने लायक़ कोई चेन तैयार होता दिख रहा है। कुल मिलाकर टीकाकरण के लिए व्यापक पैमाने पर जिस बुनियादी ढाँचे की ज़रूरत है वह कहीं तैयार होता नहीं दिख रहा। यह साफ़ है कि मोदी और उनके लग्गुओं-भग्गुओं को आम जनता की परवाह नहीं, वह केवल लन्तरानी हाँककर जनता को गुमराह करने में माहिर हैं। ज़रूरत हुई तो मौन रह कर भी वह धोखे की टट्टी खड़ी करने में उस्तादी दिखा सकते हैं। जैसेकि टीके की ख़ुराकों के लिए क़ीमत कौन चुकायेगा, सरकार या आम जनता? इस सवाल पर बड़े शातिराना ढंग से मोदी सरकार ने चुप्पी साध रखी है। अब इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस तरह मोदी सरकार ने कोरोना के पहले हमले के समय ताली-थाली बजवाकर लोगों को उनके हाल पर छोड़ दिया था, उसी तरह इस दूसरी लहर में भी लोगों को और टीकाकरण की तैयारियों को राम-भरोसे छोड़कर वह किसी और शगूफ़ेबाज़ी में लग जायेगी।

सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षक फ़्रेडरिक एंगेल्स को उनके 200वें जन्मदिन (28 नवम्बर) पर याद करते हुए

भारत के नव-नरोदवादी "कम्युनिस्टों" और क़ौमवादी "मार्क्सवादियों" को फ़्रेडरिक एंगेल्स आज क्या बता सकते हैं?

अभिनव

28 नवम्बर 1820 को सर्वहारा वर्ग के महान शिक्षक और कार्ल मार्क्स के अनन्य मित्र फ़्रेडरिक एंगेल्स का जन्म हुआ था। द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद और वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्तों का कार्ल मार्क्स के साथ विकास करने वाले हमारे इस महान नेता ने पहले कार्ल मार्क्स के साथ और 1883 में मार्क्स की मृत्यु के बाद 1895 तक विश्व सर्वहारा आन्दोलन को नेतृत्व दिया। मार्क्सवाद के सार्वभौमिक सिद्धान्तों को स्थापित करने के अलावा इन सिद्धान्तों की रोशनी में उन्होंने इतिहास, विचारधारा, एंथ्रोपॉलजी और प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में ऐसे शोध-कार्य किये, जिन्हें पढ़ना आज भी इस क्षेत्र के विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य और अपरिहार्य है।

आज हमारे देश में मौजूद स्थितियों के मद्देनज़र उनकी कई रचनाएँ विशेष रूप से पढ़ने योग्य हैं, लेकिन जिस रचना का ख़याल आज ख़ास तौर पर मेरे दिमाग़ में आ रहा है, वह है: **'फ़्रांस और जर्मनी में किसान प्रश्न'। हमारे देश में कुलकों, धनी किसानों, उच्च-मध्यम किसानों के हितों और माँगों की नुमाइन्दगी में व्यस्त तमाम नरोदवादी व क़ौमवादी कम्युनिस्टों को ख़ास तौर पर इस छोटी, लेकिन बेहद अहम रचना का अध्ययन करना चाहिए, जिसने कृषि प्रश्न व किसान प्रश्न पर मार्क्सवादी चिन्तन में एक अहम इज़ाफ़ा किया और आगे चलकर इस प्रश्न पर लेनिन के चिन्तन का आधार बनी।**

एंगेल्स के जन्म की द्विशतवार्षिकी पर उसी रचना से कुछ उद्धरण साझा कर रहा हूँ।

गाँवों में सर्वहारा वर्ग के सबसे अहम मित्र वर्ग ग़रीब किसानों के बारे में सबसे पहले एंगेल्स यह बताते हैं कि ग़रीब किसान किसे कहा जाता है। इसे समझना बेहद ज़रूरी है क्योंकि आज के समय में हर किसान को ही ग़रीब किसान क़रार देकर मौजूदा किसान आन्दोलन का रूमानीकरण किया जा रहा है। एंगेल्स ग़रीब किसान की परिभाषा बताते हुए कहते हैं:

"छोटे किसानों से यहाँ हमारा तात्पर्य भूमि के एक ऐसे टुकड़े के मालिक या काश्तकार से है, जो आम तौर पर उतने से बड़ा नहीं, जितना कि वह और उसका परिवार जोत सकता है, और उतने से छोटा भी नहीं, जितने से कि उसके परिवार का भरण-पोषण हो सकता है। अत: यह छोटा किसान छोटे दस्तकार की ही तरह मेहनतकश होता है।" (मार्क्स-एंगेल्स, 'संकलित रचनाएं' (तीन खण्डों में), खण्ड-3, भाग-2, पृ. 368)

यानी वह किसान ही गाँवों में सर्वहारा वर्ग का मित्र वर्ग है, जो कि नियमित तौर पर उजरती श्रम का शोषण नहीं करता है और उसकी आजीविका का आधार दूसरों के श्रम का शोषण नहीं है। इस किसान आबादी की नियति में आम तौर पर सर्वहाराकरण ही होता है। जैसा कि एंगेल्स कहते हैं:

"संक्षेप में, अतीतकालीन उत्पादन पद्धति के अन्य सभी अवशेषों की भाँति हमारे छोटे किसान का भी विनाश निश्चित है, उसके उद्धार की कोई आशा नहीं है। वह भावी सर्वहारा है।"

लेकिन एंगेल्स याद दिलाते हैं कि इसके बावजूद यह ग़रीब किसान तुरन्त ही कम्युनिस्ट प्रचार को सुनकर सामूहिक खेती की आवश्यकता पर सहमत नहीं हो जाता है। एंगेल्स लिखते हैं:

"इस नाते उसे समाजवादी प्रचार पर तत्परता से कान देना चाहिए था। किन्तु फ़िलहाल सम्पत्ति के प्रति उसका अनुराग उसे ऐसा करने से रोके हुए है। ख़तरे में पड़े ज़मीन के अपने नन्हे से टुकड़े की हिफ़ाज़त करना उसके लिए जितना ही अधिक कठिन होता जाता है, उतना ही अधिक वह उससे जी-जान से चिपटता जाता है, और उतना ही अधिक वह भू-सम्पत्ति को पूरे समाज को हस्तान्तरित करने की बातें करने वाले सामाजिक-जनवादियों को सूदख़ोरों और वकीलों की तरह ख़तरनाक समझने लगता है। सामाजिक-जनवाद इस पूर्वाग्रह को किस प्रकार दूर करे? वह अपने प्रति ईमानदारी बरतते हुए छोटे किसानों को, जिनका विनाश निश्चित है, क्या दिलासा दे?" (वही, पृ. 369)

इसका एंगेल्स निम्न जवाब देते हुए, ग़रीब किसानों को शुरू से ही उनकी अनिवार्य नियति के बारे में सच्चाई से अवगत कराने की वकालत करते हैं:

"आइए, साफ़-साफ़ कह दें: हम छोटे किसानों के आम जन-समुदाय को, उनकी सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति, उनकी ख़ास ढंग की शिक्षा-दीक्षा और उनकी अलग-थलग जीवन-विधि से उत्पन्न पूर्वाग्रहों को देखते हुए, जिनको पूँजीवादी अख़बार और बड़े ज़मीन्दार यत्नपूर्वक जीवित रखते और पुष्ट करते हैं, तभी झटपट अपने साथ ला सकते हैं, जबकि उनसे ऐसे वादे करें, जिनके बारे में हम ख़ुद जानते हैं कि हम उनका पालन नहीं कर सकेंगे। यानी, हम उनसे यह वादा करें कि उन्हें आक्रान्त करने वाली सभी आर्थिक शक्तियों से उनकी सम्पत्ति की हर हालत में रक्षा की जायेगी, बल्कि उन्हें उन भारों से भी मुक्त किया जायेगा, जिनसे वे पहले से ही दबे हुए हैं: काश्तकार को स्वतंत्र भूमिधर किसान बना दिया जायेगा और बन्धक के बोझ से दबकर दम तोड़ते हुए खेत के मालिकों के क़र्ज़े भरे जायेंगे। यदि हम ऐसा कर भी सकें, तो हम फिर उस बिन्दु पर पहुँच जायेंगे, जहाँ से वर्तमान स्थिति अनिवार्यत: फिर नये सिरे से उत्पन्न होगी। हम किसान को मुक्ति नहीं, सिर्फ़ मोहलत दिलायेंगे।

"लेकिन हमारा हित इस बात में नहीं है कि किसानों को रातों-रात अपनी ओर कर लें, ताकि अगले ही दिन हमारे अपने वादे पूरे न हो सकने के कारण वे हाथ से निकल जायें। जिस तरह सदा के लिए स्वामी बनने का स्वप्न देखनेवाला छोटा दस्तकार पार्टी सदस्य के रूप में हमारे लिए बेकार है, उसी तरह वह किसान भी बेकार है, जो यह आशा करता है कि हम छोटी जोत-रूपी उसकी सम्पत्ति को स्थायित्व प्रदान करेंगे। ऐसे लोग तो यहूदी-विरोधियों के लिए उपयुक्त हैं। वे उन्हीं के पास जायें और उनसे अपने छोटे-छोटे उद्यमों के उद्धार के वादे हासिल करें। जब उनके भड़कीले शब्दजाल का वास्तविक अर्थ उनको मालूम हो जायेगा और वे देख लेंगे कि यहूदी-विरोधियों के स्वर्गलोक से उनकी ओर कैसी संगीत-लहरी प्रवाहित की जाती है, तो वे अधिकाधिक मात्रा में अनुभव करेंगे कि कम वादे करने वाले तथा बिल्कुल भिन्न दिशा से मुक्ति की आशा करने वाले हम लोग अधिक विश्वसनीय हैं।" (वही, पृ. 381)

जो लोग इस आधार पर उन किसानों की भी सम्पत्ति को बड़ी पूँजी से बचाने की वकालत करते हैं, जो स्वयं उजरती श्रम का शोषण करते हैं, लेकिन साथ में सूदख़ोरों व बिचौलियों द्वारा लूटे भी जाते हैं, उनके लिए एंगेल्स की सलाह बिल्कुल स्पष्ट है। फ़्रांसीसी समाजवादियों के मार्सेई के 1892 के कृषि कार्यक्रम की प्रस्तावना की आलोचना करते हुए एंगेल्स लिखते हैं:

"इस तरह 'प्रस्तावना' समाजवाद के ऊपर एक ऐसा काम करने का अनिवार्य कर्तव्य लाद देती है, जिसे वह इसके पहले के अनुच्छेद में असम्भव घोषित कर चुकी थी। वह उस पर छोटी जोतों पर किसानों के स्वामित्व को "बरक़रार" रखने का जिम्मा डालती है, जबकि वह ख़ुद यह घोषित करती है कि स्वामित्व के इस रूप का "विनाश अवश्यम्भावी है"। माल का महकमा, सूदख़ोर और नवोदित बड़े-बड़े ज़मीन्दार वे साधन ही तो हैं, जिनके ज़रिये पूँजीवादी उत्पादन यह अवश्यम्भावी विनाश निष्पन्न करता है। "समाजवाद" इस त्रिमूर्ति से किसानों की रक्षा के लिए क्या उपाय करे, इसे हम आगे देखेंगे।

"पर केवल छोटे किसानों के स्वामित्व की ही रक्षा नहीं करनी है। इसी प्रकार" (मार्सेई कार्यक्रम के अनुसार) "यह संरक्षण उन उत्पादकों को भी प्रदान करना उपयुक्त है, जो काश्तकार या बँटाईदार की हैसियत से दूसरों की ज़मीन जोतते हैं और जो यदि दिहाड़ीदार मज़दूरों का शोषण करते हैं, तो एक हद तक उस शोषण से बाध्य होकर करते हैं, जिसके वे स्वयं शिकार हैं।"

"यहाँ पहुँचकर हमें दंग रह जाना पड़ता है। समाजवाद उजरती श्रम के शोषण का ख़ास तौर पर विरोध करता है। पर यहाँ कहा जाता है कि समाजवाद का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि फ़्रांसीसी काश्तकारों की तब भी रक्षा करे, जब वे "दिहाड़ीदार मज़दूरों का शोषण करते हैं"। (ये हूबहू मूलपाठ के शब्द हैं!) और यह इसलिए किया जाये कि वे एक हद तक "उस शोषण से बाध्य होकर ऐसा करते हैं, जिसके वे स्वयं शिकार हैं"!

"लेकिन बर्फ़ की गाड़ी को एक बार ढलान पर छोड़ देने पर नीचे फिसलते जाना बहुत ही सहज और सुखप्रद होता है। जर्मनी के बड़े और मँझोले किसान अगर फ़्रांसीसी समाजवादियों के पास आकर कहें कि ज़रा जर्मन पार्टी की कार्यकारिणी समिति से कहकर हमें अपने फ़ार्मों के सेवक-सेविकाओं का शोषण करने में जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी का संरक्षण दिलवा दीजिये और यह दलील पेश करें कि हम सूदख़ोरों, तहसीलदारों, गल्ले के सट्टेबाज़ों और मवेशियों के व्यापारियों के "शोषण के स्वयं शिकार हैं", तो ये लोग भला उनको क्या जवाब दे सकते हैं?" (वही, पृ. 374-75)

यह बात आज भारत के नरोदवादी कम्युनिस्टों और क़ौमवादी "मार्क्सवादियों" पर हूबहू लागू होती है। ज़ाहिर है, वे जिस चीज़ पर व्यवहार कर रहे हैं, उसका मार्क्सवाद से कोई लेना-देना नहीं है। वह वास्तव में नव-नरोदवाद है और दूसरे मामले में वह प्रवृत्ति है, जिसे हमने ट्रॉट-बुण्डवाद कहा है, यानी त्रॉत्स्कीपंथ और क़ौमवाद का आश्चर्यजनक रूप से मूर्खतापूर्ण मिश्रण।

एंगेल्स आगे स्पष्ट करते हैं कि पार्टी के भीतर सर्वहारा राजनीतिक अवस्थिति अपनाकर किसी भी वर्ग का व्यक्ति आ सकता है, लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी कभी भी एक वर्ग के तौर पर गाँवों में खेतिहर मज़दूरों और ग़रीब व निम्न मँझोले किसानों के अलावा किसी भी अन्य वर्ग को मित्र वर्ग नहीं मान सकती है। देखें एंगेल्स क्या कहते हैं:

"मैं इसका स्पष्ट खण्डन करता हूं कि किसी देश की समाजवादी मज़दूर पार्टी का यह कर्तव्य है कि अपने अन्दर खेतिहर मज़दूरों और छोटे किसानों के अलावा, मँझोले तथा बड़े किसानों को और शायद बड़ी-बड़ी जागीरों के काश्तकारों को भी तथा पूँजीवादी पशुपालकों और राष्ट्रीय भूमि के अन्य पूँजीवादी उपयोगकर्ताओं को सूत्रबद्ध करे। सामन्ती भू-स्वामित्व इन सभी को सामान्य शत्रु प्रतीत हो सकता है। ख़ास-ख़ास सवालों पर हम उनके साथ कन्धे से कन्धा मिला सकते हैं और कुछ निश्चित लक्ष्यों के लिए (सामन्ती व्यवस्था होने की सूरत में—लेखक) उनके साथ खड़े होकर लड़ सकते हैं। अपनी पार्टी में हम किसी भी सामाजिक वर्ग के व्यक्ति का उपयोग कर सकते हैं, पर पूँजीवादी, मध्यम-पूँजीवादी या मँझोला किसान हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला कोई भी समूह पार्टी में नहीं हो सकता।" (वही, पृ. 376-77, कुछ जगहों पर ग़लत/अस्पष्ट अनुवाद को मैंने सुधारा है)

इसी लेख में एंगेल्स आगे स्पष्ट करते हैं कि कम्युनिस्ट जब सत्ता में आयेंगे तो ग़रीब किसानों से उनकी ज़मीनें जबरन नहीं ली जायेंगी और उन्हें मिसालों के ज़रिये सहमत किया जायेगा कि उनके जीवन को ग़रीबी, बदहाली, अनिश्चितता और असुरक्षा से निजात केवल और केवल सामूहिक खेती के ज़रिये मिल सकती है। पहले उन्हें सहकारी खेती पर सहमत किया जायेगा और फिर आगे चलकर सामूहिक खेती के अधिक उन्नत रूपों के लिए। एंगेल्स लिखते हैं:

"दूसरे, यह भी उतना ही स्पष्ट है कि जब हमारे हाथों में राज्यसत्ता आयेगी, तब हम बलपूर्वक छोटे किसानों की सम्पत्ति (बामुआवज़ा या बिला मुआवज़ा) छीनने की—जो काम हमें बड़े ज़मीन्दारों के मामले में करना पड़ेगा—बात भी नहीं सोचेंगे। छोटे किसानों के सम्बन्ध में हमारा कार्य प्रथमत: उनके निजी उद्यम और निजी स्वामित्व को सहकारी उद्यम और स्वामित्व में अन्तरित सहायता देकर किया जायेगा। कहने की ज़रूरत नहीं कि उस समय छोटे किसानों को ऐसे भावी लाभ, जो उन्हें आज भी स्पष्ट होंगे, दिखाने के हमारे पास प्रचुर साधन होंगे।" (वही, पृ. 382)

आगे एंगेल्स लिखते हैं:

"मुख्य बात यह है कि किसानों को साफ़-साफ़ समझा दिया जाये कि उनके घरों और खेतों को सहकारिता के आधार पर संचालित सहकारी सम्पत्ति में परिवर्तित करके ही हम उन्हें उनके लिए बचा सकते और बरक़रार रख सकते हैं। व्यक्तिगत स्वामित्व पर आधारित व्यक्तिगत कृषि ही किसानों का विनाश अवश्यम्भावी बनाती है। यदि वे व्यक्तिगत संचालन पर अड़े

(पेज 12 पर जारी)

भारत के नव-नरोदवादी "कम्युनिस्टों" और क़ौमवादी "मार्क्सवादियों" को फ़्रेडरिक एंगेल्स आज क्या बता सकते हैं?

(पेज 11 से आगे)

रहेंगे, तो वे अनिवार्यत: घर-द्वार से निकाल बाहर किये जायेंगे और बड़े पैमाने का पूँजीवादी उत्पादन उनकी पुरानी-धुरानी उत्पादन पद्धति का स्थान ग्रहण कर लेगा। यही वस्तुस्थिति है।

....

"छोटी जोत वाले किसानों को हम न तो आज और न ही भविष्य में कभी यह आश्वासन दे सकते हैं कि पूँजीवादी उत्पादन की प्रचण्ड शक्ति से उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति और उनके व्यक्तिगत उद्यम की रक्षा की जा सकती है। हम उन्हें इतना ही आश्वासन दे सकते हैं कि (राज्यसत्ता पर क़ाबिज़ होने के बाद—लेखक) हम बलपूर्वक, उनकी इच्छा के विरुद्ध, उनके स्वामित्व सम्बन्धों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इसके अलावा हम इस बात की हिमायत कर सकते हैं कि आइन्दा छोटे किसानों के विरुद्ध पूँजीपतियों और बड़े ज़मीन्दारों का संघर्ष अनुचित साधनों का कम से कम इस्तेमाल करते हुए चले और सीधे-सीधे की जाने वाली लूट-खसोट और ठगी, जो आजकल धड़ल्ले से चलती है, जहाँ तक सम्भव हो, बन्द हो जाये। अपने इस आग्रह में हम कुछ ही मामलों में, जो अपवादस्वरूप ही होंगे, सफल हो सकते हैं। विकसित पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में यह कोई भी नहीं बता सकता कि ईमानदारी और ठगी की सीमारेखा कहाँ पर है।

....

"अत: ऐसे वादे करने से ज़्यादा बड़ा अहित हम पार्टी और छोटे किसानों का नहीं कर सकते हैं, जैसे कि यह कि हम छोटी जोत को स्थायी रूप से बरक़रार रखना चाहते हैं। ऐसा करने का मतलब सीधे-सीधे किसानों की मुक्ति का मार्ग अवरुद्ध कर देना और पार्टी को हुल्लड़बाज़ यहूदी-विरोधियों के निम्न स्तर पर ले आना होगा। इसके विपरीत, हमारी पार्टी का यह कर्तव्य है कि वह किसानों को बारम्बार स्पष्टता के साथ जताये कि पूँजीवाद का बोलबाला रहते हुए उनकी स्थिति पूर्णतया निराशापूर्ण है, कि उनकी छोटी जोतों को इस रूप में बरक़रार रखना एकदम असम्भव है, कि बड़े पैमाने का पूँजीवादी उत्पादन उनके छोटे उत्पादन की अशक्त, जीर्ण-शीर्ण प्रणाली को उसी तरह कुचल देगा, जिस तरह रेलगाड़ी ठेलागाड़ी को कुचल देती है। ऐसा करके हम आर्थिक विकास की अनिवार्य प्रवृत्ति के अनुरूप कार्य करेंगे। और यह विकास एक न एक दिन छोटे किसानों के मन में हमारी बात को बैठाये बिना नहीं रह सकता।" (वही, पृ. 383-385, अनुवाद को कहीं-कहीं मैंने सुधारा है)

इसके बाद एंगेल्स मँझोले किसान के प्रश्न पर आते हैं और उसके दोहरे चरित्र के बारे में बात करते हैं। एंगेल्स बताते हैं कि इसका जो हिस्सा ग़रीब किसानों के क़रीब होता है, उसे उपरोक्त बातें जल्दी समझायी जा सकती हैं जबकि इसका वह हिस्सा जो बड़े व धनी किसानों के नज़दीक रहता है, उसका राजनीतिक व्यवहार भी उसी जैसा होता है। यानी निम्न मध्यम किसानों व उच्च मध्यम किसानों में फ़र्क़ करना ज़रूरी है। एंगेल्स लिखते हैं:

"अब हम अपेक्षाकृत बड़े किसानों के विषय पर आते हैं। यहाँ पैतृक सम्पत्ति के बँटवारे के तथा ऋणग्रस्तता और ज़मीन की मजबूरन बिक्री के परिणामस्वरूप हम छोटी जोत वाले किसान से लेकर अपनी पैतृक सम्पत्ति को अक्षुण्ण रखने, यहाँ तक कि उसे बढ़ाने वाले बड़े भूमिधर किसान तक की दरम्यानी मंज़िलों की एक विविधतापूर्ण तस्वीर पाते हैं। मँझोला किसान जहाँ छोटी जोत वाले किसानों के बीच रहता है, वहाँ उसके हित और विचार उनके हित और विचारों से बहुत अधिक भिन्न नहीं होते। वह अपने तजुरबे से जानता है कि उसके जैसे कितने ही लोग छोटे किसानों की हालत में पहुँच चुके हैं। पर जहाँ मँझोले और बड़े किसानों का प्राधान्य होता है और कृषि के संचालन के लिए आम तौर पर नौकरों और नौकरानियों की आवश्यकता होती है, वहाँ बात बिल्कुल दूसरी ही है। कहने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों की पार्टी को प्रथमत: उजरती मज़दूरी की ओर से, यानी इन नौकरों-नौकरानियों और दिहाड़ीदार मज़दूरों की ओर से ही लड़ना है। किसानों से ऐसा कोई वादा करना निर्विवाद रूप में निषिद्ध है, जिसमें मज़दूरों की उजरती ग़ुलामी को जारी रखना सम्मिलित हो। परन्तु जब तक बड़े और मँझोले किसानों का अस्तित्व है, वे उजरती मज़दूरों के बिना काम नहीं चला सकते। इसलिए छोटी जोत वाले किसानों को हमारा यह आश्वासन देना कि वे इस रूप में सदा बने रह सकते हैं, जहाँ मूर्खता की पराकाष्ठा होगी, वहाँ बड़े और मँझोले किसानों को यह आश्वासन देना ग़द्दारी की सीमा तक पहुँच जाना होगा।" (वही, पृ. 385-86)

अब नरोदवादी कम्युनिस्ट और ट्रॉट-बुण्डवादी क़ौमवादी "मार्क्सवादी" इस समय क्या ठीक यही मूर्खता और ठीक यही ग़द्दारी भारत के खेतिहर मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों के साथ नहीं कर रहे हैं, जिसके बारे में एंगेल्स ने यहाँ बात की है? उजरती श्रम का नियमित तौर पर शोषण करने वाले धनी किसानों-कुलकों की लाभकारी मूल्य की प्रतिक्रियावादी माँग का समर्थन करना, वह भी उन लोगों द्वारा जो अपने आप को कम्युनिस्ट कहते हैं, क्या सीधे-सीधे वह ग़द्दारी नहीं है जिसकी एंगेल्स ने यहाँ बात की है? चाहे यह ग़द्दारी संघीय अधिकारों के नाम पर की जाये या कारपोरेट पूँजी का ख़तरा दिखा कर, यह फिर भी ग़द्दारी ही कही जायेगी।

बड़े और उच्च मध्यम किसानों के बारे में ही एंगेल्स आगे लिखते हैं:

"यही बात बड़े और मँझोले किसानों पर लागू होती है। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि हमारी दिलचस्पी उनसे अधिक उनके नौकरों-नौकरानियों और दिहाड़ीदार मज़दूरों में है। यदि ये किसान यह गारण्टी चाहते हैं कि उनका उद्यम जारी रहे, तो हम ऐसा आश्वासन देने की स्थिति में नहीं हैं। उन्हें तब यहूदी-विरोधियों, किसान संघ वालों और ऐसी ही अन्य पार्टियों में शामिल हो ही जाना चाहिए, जिन्हें सबकुछ वादा करने और एक भी वादा पूरा न करने में मज़ा आता है। हमें आर्थिक दृष्टि से यह पक्का यक़ीन है कि छोटे किसानों की तरह बड़े और मँझोले किसान भी अवश्य ही पूँजीवादी उत्पादन और सस्ते विदेशी गल्ले की होड़ के शिकार बन जायेंगे। यह इन किसानों की भी बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता और सभी जगह दिखायी पड़ रही अवनति से सिद्ध हो जाता है। इस अवनति का इसके सिवा हमारे पास कोई इलाज नहीं है कि उन्हें भी सलाह दें कि वे अपने-अपने फ़ार्मों को एक में मिलाकर सहकारी उद्यमों की स्थापना करें, जिनमें उजरती श्रम के शोषण का अधिकाधिक उन्मूलन होता जायेगा, और जो धीरे-धीरे उत्पादकों के एक महान राष्ट्रीय सहकारी उद्यम के संघटक अंगों में परिवर्तित किये जा सकते हैं, जिनमें प्रत्येक शाखा के अधिकार और कर्तव्य समान होंगे। यदि ये किसान यह महसूस करें कि उनकी मौजूदा उत्पादन पद्धति का विनाश अवश्यम्भावी है और इससे आवश्यक सबक़ हासिल करें, तो वे हमारे पास आयेंगे और यह हमारा कर्तव्य हो जायेगा कि नयी उत्पादन पद्धति में उनके भी संक्रमण को शक्ति भर सुगम बनायें। अन्यथा हमें उन्हें अपने भाग्य के भरोसे छोड़ देना होगा और उनके उजरती मज़दूरों के पास जाना होगा, जिनके बीच हम सहानुभूति पाये बिना नहीं रह सकते।" (वही, पृ. 386-87, कुछ जगहों पर मैंने ख़राब अनुवाद को दुरुस्त किया है)

जहाँ तक बड़ी-बड़ी ज़मीनें रखने वाले बेहद धनी किसानों और कुलकों का सवाल है, एंगेल्स कहते हैं कि उनके मामले में समाधान बिल्कुल आसान है। एंगेल्स लिखते हैं:

"केवल बड़ी-बड़ी ज़मीन्दारियों का मामला ऐसा है, जो बिल्कुल सीधा और साफ़ है। यहाँ हमारा सामना खुले पूँजीवादी उत्पादन से होता है, इसलिए यहाँ किसी भी तरह के संकोच में पड़ने की ज़रूरत नहीं है। यहाँ हमारे सामने ग्रामीण सर्वहारा का विशाल जन-समुदाय है और हमारा कर्तव्य स्पष्ट है। ज्यों ही हमारी पार्टी राज्यसत्ता प्राप्त करती है, उसे बड़े भूस्वामियों की सम्पत्ति उसी तरह से ले लेनी चाहिए, जिस तरह उद्योग में कारख़ानेदारों की सम्पत्ति ले ली जायेगी।" (वही, पृ. 387)

अब एंगेल्स के उपरोक्त दो उद्धरणों की रोशनी में भारत में मौजूदा किसान आन्दोलन में सक्रिय नरोदवादी कम्युनिस्टों और उसका समर्थन कर रहे (क्योंकि उनकी औक़ात इतनी ही है!) ट्रॉट-बुण्डवादियों के राजनीतिक व्यवहार की समीक्षा कीजिये। इनमें से पहले, यानी **नरोदवादी कम्युनिस्ट, धनी किसानों-कुलकों की माँगों पर तो एकदम जुझारू तरीक़े से लड़ने को तैयार हैं, लेकिन पंजाब के ग़रीब खेतिहर मज़दूरों व ग़रीब किसानों की माँगों को उठाने की बात तक नहीं करते।** अभी जब हाल ही में इन्हीं धनी किसानों व कुलकों ने लॉकडाउन में श्रम आपूर्ति में कमी और खेतिहर मज़दूरी में बढ़ोत्तरी के मद्देनज़र खेत मज़दूरी की अधिकतम सीमा तय करने और उसे ज़बरन खेत मज़दूरों पर लादने का काम किया था, तो इनके मुँह में दही जमी हुई थी। आज भी किसानों के आन्दोलन में ये धनी किसानों व कुलकों के सामने यह सवाल नहीं उठाते कि अपने लिए लाभकारी मूल्य माँगते हुए, वे अपने खेतों में काम करने वाले खेतिहर मज़दूरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी, आठ घण्टे के कार्यदिवस, (लम्बे कार्य-अनुबन्ध की सूरत में) साप्ताहिक छुट्टी व अन्य श्रम क़ानून का मुद्दा क्यों नहीं उठाते? एंगेल्स ने किसान प्रश्न पर कम्युनिस्टों के इसी बर्ताव को ग़द्दारी का नाम दिया है, चाहे वह किसी भी नाम पर की जा रही हो, इज़ारेदार पूँजी के विरोध के नाम पर या फिर प्रान्तों के संघीय अधिकारों के नाम पर।

अन्त में यह याद दिलाना ज़रूरी है कि कुछ लोग आन्दोलनों का आकार देखकर रोमांचित हो जाते हैं। **आज जो किसान आन्दोलन जारी है, उसमें शामिल किसानों के जनवादी अधिकारों के हनन और राजकीय दमन का हम भी विरोध करते हैं। लेकिन स्पष्ट है कि यह आन्दोलन धनी किसानों, उच्च-मध्यम किसानों, कुलकों व आढ़तियों के हितों की नुमाइन्दगी करता है।** इस बात को तथ्यों के साथ सिद्ध किया जा सकता है। ऐसे में, इस आन्दोलन के वर्ग चरित्र व चार्टर से किसी कम्युनिस्ट के सहमति रखने का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता है। चाहे कोई कुछ भी कहे, हर व्यक्ति जानता है कि **मौजूदा आन्दोलन के केन्द्र में एक ही प्रमुख माँग है: लाभकारी मूल्य की व्यवस्था को बचाना और उसे बढ़ाना। यह माँग सीधे-सीधे मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसान वर्ग के विरुद्ध जाती है, जो या तो लाभकारी मूल्य पाते ही नहीं या फिर अपवादस्वरूप स्थितियों में पाते भी हैं, तो उसके बढ़ने से उन्हें नुक़सान ज़्यादा होता है क्योंकि वे मुख्य रूप से खेती के उत्पादों के ख़रीदार होते हैं, विक्रेता नहीं। ऐसे में, इस आन्दोलन में चाहें लाखों की भीड़ जुट जाये, यह कोई सर्वहारा वर्ग व ग़रीब किसान वर्ग का प्रगतिशील आन्दोलन नहीं बन सकता, बल्कि यह बड़े कारपोरेट पूँजीपति वर्ग और ग्रामीण पूँजीपति वर्ग के बीच का अन्तरविरोध है कि गाँव के ग़रीबों के बेशी श्रम को विनियोजित करने का मुख्य अधिकार किसका हो।**

किसी आन्दोलन का वर्ग चरित्र और उसकी प्रगतिशीलता या प्रतिगामिता उसके आकार से नहीं तय होती, वरना हमें दुनिया भर में तमाम आन्दोलनों पर पुनर्विचार करना पड़ जायेगा जैसे कि राम मन्दिर आन्दोलन, नात्सी आन्दोलन जैसे खुले तौर पर दक्षिणपंथी/फ़ासीवादी आन्दोलन या छोटे मिल्कियों के तमाम आन्दोलन जो कि सीधे-सीधे दक्षिणपन्थी नहीं थे, लेकिन रूमानीवादी, पश्चद्रष्टा और मिलनैरियन होने के कारण ऐतिहासिक तौर पर प्रतिगामी आन्दोलन ही थे, जिनके हित मज़दूर वर्ग और ग़रीब मेहनतकश आबादी के ख़िलाफ़ जाते थे।

एक दूसरी बात की ओर इशारा करना भी यहाँ बेहद ज़रूरी है। मेरा मानना है कि **क्रान्तिकारी परिस्थितियों को छोड़कर पूँजीवाद के रोज़मर्रा के वर्ग संघर्षों में तात्कालिक तौर पर उन वर्गों के आन्दोलन में ज़्यादा जल्दी और ज़्यादा बड़ी भीड़ जुटती है और आगे भी जुटेगी, जिन वर्गों ने अभी सबकुछ खोया नहीं है और उनके पास खोने के लिए कुछ या बहुत-कुछ है।** मिसाल के तौर पर, ख़ुदरा व्यापार में सौ प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश पर व्यापारियों के आन्दोलनों में तुरन्त ज़्यादा बड़ी भीड़ जुट जाती है, किसानों के लाभकारी मूल्य की व्यवस्था पर ख़तरे के जवाब में होने वाले आन्दोलनों में भी तत्काल ज़्यादा बड़ी भीड़ जुट जाती है। कारण यह है कि ये आन्दोलन समूची पूँजीवादी व्यवस्था को चुनौती नहीं देते (न लघुकालिक तौर पर, और न ही दीर्घकालिक तौर पर) बल्कि उसी व्यवस्था के भीतर उन वर्गों के आन्दोलन होते हैं, जो कि सर्वहारा वर्ग द्वारा पैदा अधिशेष के विनियोजन में ज़्यादा बड़े हिस्से के लिए कशमकश कर रहे होते हैं।

इन वर्गों के आन्दोलन में इसलिए भी तात्कालिक तौर पर ज़्यादा जुटान होता है क्योंकि इनके पास वे संसाधन होते हैं जो कि उन्हें तत्काल गोलबन्द होने के योग्य बनाते हैं और ज़्यादा जुझारू रूप से लड़ने के योग्य बनाते हैं। मज़दूर वर्ग को अगर दो दिन की हड़ताल भी करनी होती है, तो उन्हें उसके लिए लम्बी तैयारी करनी पड़ती है क्योंकि आम तौर पर इस वर्ग के बड़े हिस्से के पास न तो कोई संचित पूँजी होती है और न ही बचत। उसके लिए छह महीने का राशन लेकर ट्रैक्टरों, ट्रकों, लॉरियों, कारों में लदकर राजधानी की ओर कूच करना सामान्यत: सम्भव नहीं होता है। यह भी एक तथ्य है, जिसे कोई नकार नहीं सकता है। पुलिस द्वारा सड़क पर लगाए गए सीमेण्टेड बोल्डर्स को भी ट्रैक्टरों के बूते धकेलना निश्चित रूप से ज़्यादा आसान हो जाता है, जिसपर एनडीटीवी मार्का लिबरल ही नहीं बल्कि तथाकथित कम्युनिस्ट भी

(पेज 14 पर जारी)

विकृत विकास का क़हर : फेफड़ों में घुलता ज़हर

– कविता कृष्णपल्लवी

हर साल की तरह सर्दियाँ ठीक से शुरू होने के पहले ही दिल्ली और आसपास के शहरों में धुँआ और कोहरा आपस में मिलकर सड़कों और घरों पर एक स्लेटी चादर की तरह पसर गये और लोगों का साँस लेना दूभर हो गया। 'स्मोक' और 'फॉग' को मिलाकर इसे दुनिया भर में 'स्मॉग' कहा जाता है। हिन्दी में धुँआ और कुहासा को जोड़कर 'धुँआसा' भी कहा जा सकता है। यह जाड़े के दिनों की स्थायी समस्या है जो साल-दर-साल गम्भीर होती जा रही है। अब दिल्ली-एनसीआर ही नहीं, देश के ज़्यादातर महानगरों में यह एक भयंकर समस्या बन चुकी है। पिछले कुछ समय से लखनऊ देश का दूसरा सबसे अधिक प्रदूषित शहर बना हुआ है।

विकास के नाम पर मुनाफ़ा कूटने की अनियंत्रित अन्धी हवस और धनपतियों की विलासिता की क़ीमत जहाँ ग़रीब मेहनतकश आबादी अपनी हड्डियाँ गलाकर चुकाती है, वहीं पूरा समाज भी वायु-प्रदूषण और जल-प्रदूषण के घातक दुष्प्रभावों के रूप में इनका अंजाम भुगतता है। हालाँकि **हर तरह के प्रदूषण की भी सबसे जानलेवा मार ग़रीब मेहनतकश आबादी पर ही पड़ती है क्योंकि उनके पास न तो बचाव के उपाय होते हैं न ही प्रदूषण से होने वाली बीमारियों का वे ठीक से इलाज करा पाते हैं।**

विश्व स्वास्थ्य संगठन के मुताबिक़ वायु प्रदूषण दिल की बीमारियों, फेफड़े के रोगों, फेफड़े के कैंसर, मस्तिक आघात जैसी जानलेवा बीमारियों के जोखिम को बढ़ाने वाला एक प्रमुख कारण है। सांस की नली में संक्रमण का जोखिम भी इससे बढ़ जाता है और दमे की समस्या गम्भीर हो जाती है।

प्रदूषण पर निगरानी रखने वाली संस्था आईक्यूएअर की 2019 में जारी रिपोर्ट के मुताबिक़ दुनिया के 10 सबसे अधिक प्रदूषित शहरों में से 6 शहर भारत के हैं। इन 10 प्रदूषित शहरों में पहला स्थान दिल्ली का है। **भारत में हर साल प्रदूषण जनित बीमारियों से 20 लाख तक मौतें होती हैं।** यूनिसेफ़ की 2016 की एक रिपोर्ट के अनुसार सिर्फ़ वायु प्रदूषण के कारण हर पाँच वर्षों के दौरान दुनिया में 6 लाख बच्चों की मौत होती है। दुनिया के दो अरब बच्चे प्रदूषित हवा में साँस लेते हैं। इनमें से 62 करोड़ बच्चे दक्षिण एशिया के (जिनमें भारत सबसे ऊपर है), 52 करोड़ अफ़्रीका के तथा 45 करोड़ पूर्वी एशिया व प्रशान्त क्षेत्र के हैं। प्रदूषण के कारण स्वास्थ्य पर बढ़ा ख़र्च पूरी दुनिया के सकल घरेलू उत्पाद (ग्लोबल जी.डी.पी.) का 0.3 प्रतिशत है। अकेले 2014 में यह 77.83 ट्रिलियन डॉलर था। अब तक के शोधों के अनुसार, वायु प्रदूषण से टी.बी., दमा, फेफड़ों के कैंसर और दिल के रोगों के साथ ही दिमाग़ भी क्षतिग्रस्त हो जाता है। गर्भवती स्त्रियाँ, गर्भस्थ बच्चे और कम उम्र के बच्चे इससे सर्वाधिक प्रभावित होते हैं।

जानलेवा प्रदूषण से सबसे कम प्रभावित वे लोग होते हैं जो एयर-फ़िल्टर और ए.सी. लगे अपने घरों, दफ़्तरों, क्लबों और जिम में समय बिताते हैं और सड़कों पर ए.सी. गाड़ियों में चलते हैं, लेकिन पूरी तरह से अछूते तो वे भी नहीं रह सकते। यह बात यहाँ भी लागू होती है कि पूँजी की राक्षसी स्वयं पूँजीपतियों के बच्चों को भी अपना शिकार बनाती है।

वायु-प्रदूषण, और विशेषकर ठण्डे मौसम में शहरों में होने वाला आज पूरी दुनिया में समस्या बन चुकी है। लेकिन एशिया-अफ़्रीका-लातिन अमेरिका के "विकासशील" देशों में यह समस्या बेहद गम्भीर है। यहाँ ख़राब क्वालिटी वाले डीज़ल-पेट्रोल और कोयले का ऊर्जा के मुख्य स्रोत के रूप में इस्तेमाल होता है और ग़रीबों के घरों में ईंधन के रूप में लकड़ी, उपलों और केरोसिन का प्रयोग होता है। सार्वजनिक यातायात साधनों की ख़राब व्यवस्था और अमीरी के दिखावे की संस्कृति के कारण सड़कों पर कारों की रेलमपेल मची रहती है और शहरी कूड़े के निस्तारण की कोई ढंग की व्यवस्था ही नहीं होती है।

इन पिछड़े पूँजीवादी देशों में भी भारत सबसे आगे है। इसका एक बड़ा कारण यहाँ की लद्धड़ और अतिभ्रष्ट नौकरशाही और नेताशाही भी है। तमाम क़ानूनों को ताक पर रखकर शहरों के कारख़ानों की बिना फ़िल्टर लगी चिमनियाँ वायुमण्डल में ज़हरीला धुँआ उगलती रहती हैं। अल्यूमीनियम और सीसा (लेड) मिश्रित निम्नस्तरीय डीज़ल और पेट्रोल के इस्तेमाल के मामले में भी भारत सबसे आगे के देशों में है। महानगरों के लैण्डफ़िल साइट्स पर कूड़े के पहाड़ लगे रहते हैं और वहाँ महीनों तक, और कहीं-कहीं बरसों तक कचरा जलता रहता है।

वायु प्रदूषण की समस्या अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी और जापान जैसे कई विकसित देशों के महानगरों में भी मौजूद है, लेकिन वहाँ यह काफ़ी हद तक नियंत्रित है क्योंकि 1950-60 तक कोयला और निम्नस्तरीय डीज़ल-पेट्रोल के व्यापक इस्तेमाल के बाद ये देश अब उच्चस्तर के शोधित डीज़ल-पेट्रोल-गैस, पनबिजली, नाभिकीय ऊर्जा आदि का इस्तेमाल करने लगे हैं। यूरोप के कई देश सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा जैसे वैकल्पिक ऊर्जा स्रोतों पर अपना ज़ोर बढ़ाते जा रहे हैं। इन विकसित देशों का साम्राज्यवादी शासक वर्ग पिछड़े देशों की आम जनता की ज़िन्दगी को नरक बनाकर अपनी देश की जनता को कुछ सहूलियतें इसलिए देता है ताकि दैत्य के दुर्ग में तूफ़ान न पैदा हो। दूसरा कारण यह है कि इन देशों के नागरिक अपने बुनियादी अधिकारों तथा स्वास्थ्य और पर्यावरण जैसे मुद्दों

पर अधिक जागरूक हैं। विकसित देशों की अकूत मुनाफ़ाख़ोरी, विलासितापूर्ण जीवन-शैली और अत्यधिक ऊर्जा खपत के चलते होने वाले अत्यधिक कार्बन उत्सर्जन के परिणामस्वरूप ग्लोबल वार्मिंग, ओज़ोन परत में छेद, ग्लेशियरों के पिघलने, समुद्र की जल सतह ऊपर उठने, रेगिस्तानों के फैलने और जैव-विविधता कम होने जैसी भयावह पर्यावरणीय तबाही की ओर दुनिया बढ़ती जा रही है। लेकिन वायु प्रदूषण से बीमारियों और मौत की जो विभीषिका जिस रूप में भारत जैसे पिछड़े पूँजीवादी देशों के नागरिक भुगत रहे हैं, वैसी स्थिति पश्चिमी देशों में नहीं है।

इसका कारण यह है कि **भारत जैसे देशों का पूँजीपति वर्ग कम से कम लागत लगाकर ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा कूटने के लिए बेताब है। पूँजीवादी "विकास" की दौड़ में देर से शामिल होने के कारण वह हड़बड़ी में है और निचोड़े गये मुनाफ़े का एक छोटा हिस्सा भी प्रदूषण-नियंत्रण जैसे कामों पर ख़र्च नहीं करना चाहता। इन देशों में निवेश करने वाली विदेशी कम्पनियाँ भी पर्यावरण-मानकों को ताक पर रखकर अपना अतिलाभ सुनिश्चित करती हैं। पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी के तौर पर काम करने वाली जो सरकार हर साल इन धन्नासेठों का अरबों रुपये का क़र्ज़ माफ़ करती है और सार्वजनिक सम्पत्ति को इनके हाथों कौड़ियों के मोल बेचती रहती है, वह वायु प्रदूषण पर नियंत्रण जैसे जनकल्याणकारी कार्यों पर ऊँट के मुँह में जीरा बराबर ख़र्च करती है और इस बजट का बड़ा हिस्सा भी भ्रष्टाचार, अव्यवस्था और योजनाहीनता की भेंट चढ़ जाता है।**

ऐसे अराजक जंगल तंत्र के मामले में भारत का स्थान पिछड़े पूँजीवादी देशों की अगली क़तार में आता है। मेक्सिको, चीन, ब्राज़ील, अर्जेण्टीना जैसे तीसरी दुनिया के कई देशों ने तो फिर भी स्थिति की भयावहता को कम करने की कुछ कोशिशें कीं और इसमें कुछ कामयाबी भी हासिल की है। मेक्सिको, ब्राज़ील और अर्जेण्टीना ने इसके लिए अपने महानगरों में नियोजन के पहलू पर बल दिया, उच्च गुणवत्ता वाले पेट्रोल-डीज़ल का इस्तेमाल शुरू किया, सार्वजनिक परिवहन सेवाओं में सुधार किया, कोयले के इस्तेमाल में लगातार कमी की और कारख़ानों के लिए प्रदूषण-सम्बन्धी क़ानूनों और उन पर अमल की निगरानी-व्यवस्था को सख़्त बना दिया। चीन में वायु-प्रदूषण की समस्या नयी सदी शुरू होने तक अत्यन्त गम्भीर हो चुकी थी। इसका कारण यह था कि 1980 के बाद, तेज़ औद्योगिक विकास के लिए चीन ने पर्यावरण-मानकों की लगभग चौथाई सदी तक कोई परवाह नहीं की और इस मंज़िल तक जा पहुँचा कि मैन्युफ़ैक्चरिंग के क्षेत्र में उसने अमेरिका को पीछे छोड़ दिया है, दुनिया के कुल कच्चे स्टील के उत्पादन में आधा हिस्सा चीन का है और 2011 से 2013 के बीच उसने जितने सीमेण्ट का इस्तेमाल किया, वह अमेरिका द्वारा समूची बीसवीं सदी में इस्तेमाल किये गये सीमेण्ट का डेढ़ गुना था। इन सभी कामों में उसने ऊर्जा के लिए सबसे अधिक कोयला का इस्तेमाल किया। जल्दी ही इसके भयावह नतीजे सामने आये। राजधानी बीजिंग और अधिकांश औद्योगिक महानगरों में 'स्मॉग' के कारण सड़कों पर निकलना दूभर हो गया। फेफड़े और दिल की बीमारियाँ और इनसे मरने वाले लोगों की संख्या तेज़ी से बढ़ने लगी। 2016 में हुए बीजिंग ओलम्पिक के पहले वायु-प्रदूषण की इस समस्या की जब पूरी दुनिया में चर्चा होने लगी तो चीन सरकार ने प्रदूषण-नियंत्रण के लिए तेज़ और सख़्त क़दम उठाये। प्रदूषण-नियंत्रण के क़ानूनों को सख़्त बनाया गया, सार्वजनिक परिवहन को बेहतर बनाया गया, महानगरों की सड़कों पर निजी वाहनों की संख्या कम करने के कारगर उपाय किये गये और ऊर्जा स्रोत के रूप में कोयला के इस्तेमाल को धीरे-धीरे कम करते हुए पनबिजली, सौर ऊर्जा आदि वैकल्पिक स्रोतों पर ज़ोर बढ़ाया जाने लगा। आज चीन सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, पनबिजली जैसे ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों के विकास पर दुनिया में सबसे अधिक धन ख़र्च कर रहा है। औद्योगिक विकास के स्तर और रफ़्तार के मामले में भारत, चीन से काफ़ी पीछे है, लेकिन वायु प्रदूषण की विभीषिका को झेलने के मामले में काफ़ी आगे है।

पिछले कई वर्षों से वायु प्रदूषण के मामले में भारत की स्थिति दुनिया में सबसे ख़राब बनी हुई है और हर आने वाले वर्ष के साथ बद से बदतर होती जा रही है। 2015 में ग्रीनपीस, इण्डिया ने अपनी एक जाँच में भारत के 168 में से 154 शहरों में (यानी 90 प्रतिशत शहरों में) वायु प्रदूषण राष्ट्रीय पैमाने पर निर्धारित स्तर से अधिक पाया। इन 168 में से एक भी शहर में वायु प्रदूषण विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा निर्धारित स्तर से नीचे नहीं था। यह रिपोर्ट पी.एम. 10 के वार्षिक औसत के आधार पर तैयार की गयी थी। पी.एम. 10 हवा में मौजूद ऐसे कण होते हैं, जिनका व्यास 10 माइक्रॉन या माइक्रोमीटर होता है। पी.एम. 10 की गणना में पी.एम. 2.5 भी शामिल होता है, जो बेहद ख़तरनाक होता है। पी.एम. 10 मुख्यत: सड़क और निर्माण कार्यों की धूल से पैदा होता है, जबकि पी.एम. 2.5 मुख्यत: वाहनों, कारख़ानों में डीज़ल, कोयला आदि की खपत और लकड़ी, भूसा, पराली आदि जलाने से पैदा होता है। पिछले कई सालों से दिल्ली देश का सर्वाधिक प्रदूषित शहर पाया जा रहा है। ग़ाज़ियाबाद, लखनऊ, बरेली, फ़रीदाबाद और इलाहाबाद भी इस मामले में दिल्ली के काफ़ी निकट थे। हर साल जाड़े के दिनों में मीडिया में मचने वाली तमाम चीख़-पुकार के बावजूद यह स्थिति दिन पर दिन ज़्यादा से ज़्यादा बदतर होती चली गयी है।

इस बार दिवाली के अगले दिन राजधानी में पी.एम. 2.5 का स्तर 396 और पी.एम. 10 का स्तर 543 तक पहुँच गया था। इनका स्तर क्रमश: 300 और 500 होने पर इसे आपातस्थिति माना जाता है। अगर अगले दिन बारिश न हुई होती तो कोरोना से जूझ रही एनसीआर की आम आबादी को तमाम तरह की स्वास्थ्य समस्याओं से भी जूझना पड़ता।

केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने इस वर्ष उत्तर भारत के सभी प्रमुख शहरों में वायु प्रदूषण का स्तर राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित मानक से काफ़ी ऊपर पाया। इसे निम्नलिखित तालिका से आसानी से समझा जा सकता है:

वायु गुणवत्ता सूचकांक

(2 दिसम्बर 2020, 4 बजे अपरान्ह)

आगरा - बेहद ख़राब - 347 PM 2.5
बुलन्दशहर अतिगम्भीर 419 PM 2.5
दिल्ली बेहद ख़राब 373 PM 2.5
फ़रीदाबाद बेहद ख़राब 326 PM 2.5
ग़ाज़ियाबाद अतिगम्भीर 421 PM 2.5
कानपुर अति गम्भीर 415 PM 2.5
लखनऊ बेहद ख़राब 371 PM 2.5
ग्रेटर नोएडा अतिगम्भीर 406 PM 2.5
जींद बेहद ख़राब 356 PM 2.5
मुज़फ़्फ़रनगर बेहद ख़राब 377 PM 2.5

इस बेहद गम्भीर स्थिति के लिए कारख़ानों की अनियंत्रित धुँआ उगलती चिमनियों के साथ-साथ सड़कों पर हर रोज़ बढ़ती वाहनों की संख्या ही मुख्य तौर पर ज़िम्मेदार है। अकेले दिल्ली की सड़कों पर रोज़ाना 1 करोड़ 15 लाख से भी ज़्यादा मोटर वाहन चलते हैं और इनकी संख्या हर साल बेरोकटोक बढ़ती जा रही है। जाड़े के दिनों में दिल्ली और आसपास के राज्यों में स्मॉग और प्रदूषण की समस्या को अतिगम्भीर बनाने वाला एक अतिरिक्त कारण पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और उत्तराखण्ड के तराई अंचल के किसानों द्वारा मध्य अक्टूबर से लेकर नवम्बर के शुरुआती हफ़्ते तक खेतों में धान की पराली जलाना होता है। इसमें

(पेज 14 पर जारी)

भारत के नव-नरोदवादी "कम्युनिस्टों" और क़ौमवादी "मार्क्सवादियों" को फ़्रेडरिक एंगेल्स आज क्या बता सकते हैं?

(पेज 12 से आगे)

लहालोट हैं! जिन वर्गों के पास अपने मुनाफ़े या सम्पत्ति की रक्षा के लिए आन्दोलन हेतु संसाधन-सम्पन्नता होती है, उनमें गोलबन्दी भी अधिक होती है, तात्कालिक तौर पर जुझारूपन भी अधिक होता है और वे ज़्यादा 'ज़बरदस्त और धमाकेदार' दिखते भी हैं। ऐसे आन्दोलनों में तात्कालिक तौर पर व्यक्तिगत नायकत्व की भी कई झलकें मिलती हैं, इसमें भी कोई भी ताज्जुब की बात नहीं है।

आख़िरी बात जिसे छोटे व मँझोले मिल्कियों के सारे आन्दोलनों के विषय में चिह्नित किया जाना चाहिए वह यह है कि **इन वर्गों को सत्ता में कनिष्ठ ही सही एक हिस्सेदारी हासिल होती है और पूँजीवादी चुनावी राजनीति के भीतर भी उनकी एक हनक होती है।** जब भी धनी किसानों का कोई आन्दोलन होता है तो कुछ मंत्रियों-नेताओं के इस्तीफ़े, विपक्ष की पार्टियों का उनके समर्थन में आ जाना, समस्त क्षेत्रीय कुलक-धनी किसान दलों का उनके साथ आ जाना हमने बार-बार देखा है। **क्या आपको एक भी मज़दूर आन्दोलन याद है, जब किसी नेता-मंत्री ने सरकार से इस्तीफ़ा दिया हो? क्या श्रम क़ानूनों में पिछले तीन दशकों में हुए भयंकर संशोधनों पर कभी किसी पूँजीवादी चुनावी दल के मंत्री-नेता ने इस्तीफ़ा दिया है?** नहीं! क्यों नहीं?? शहरी और खेतिहर मज़दूर मिलाकर उनकी आबादी क़रीब 57 से 59 करोड़ बैठती है; ग़रीब किसान क़रीब 10 करोड़ के आस-पास हैं। धनी और उच्च-मध्यम किसान तो मुश्किल से 3 से 4 करोड़ हैं। फिर उनके द्वारा अपने मुनाफ़े और विशेषाधिकारों को बचाने और बड़ी इज़ारेदार पूँजी से संरक्षण के लिए होने वाले आन्दोलन से बुर्जुआ संसदीय राजनीति में ऐसा भूचाल क्यों आ जाता है? ग्वालियर में मज़दूरों को गोलियों तक से भून दिया जाता है, तूतीकोरिन में आम मेहनतकश जनता पर गोलियाँ बरसाई जाती हैं, मारूति के मज़दूरों को प्राकृतिक न्याय के सारे तकाज़ों को ताक़ पर रखकर वर्षों तक जेलों में सड़ाया जाता है; तब ऐसा भूचाल क्यों नहीं आता? कल्पना करिए कि यदि कल को दिल्ली के 55 लाख से ज़्यादा मज़दूर राजधानी पर घेरा डाल दें, जैसे कि आज धनी किसानों-कुलकों के आन्दोलन ने डाल रखा है, तो क्या उन पर पानी की बौछारें और आंसू गैस के गोले दागे जायेंगे? नहीं! अगर राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के मज़दूर श्रम कानूनों में होने वाले बदलाव पर ऐसा कोई एकजुट आन्दोलन कर राजधानी का घेराव करते (जिसकी आज के बिखराव की स्थिति में तत्काल कोई आशा नहीं की जा सकती है), तो अधिक सम्भावना है कि हम अब तक किसी बड़े गोली काण्ड के साक्षी बन चुके होते। हम ऐसा कत्तई नहीं कह रहे हैं कि मौजूदा आन्दोलन के साथ राज्यसत्ता को वैसा ही बर्ताव करना चाहिए। ज़ाहिर है, **हम किसी भी रूप में राजकीय दमन के ख़िलाफ़ हैं और मौजूदा आन्दोलन को राजधानी में आने से रोकने के लिए उन पर की गयी पानी की बौछारों व आँसू गैस के गोलों को दागने के भी ख़िलाफ़ हैं। लेकिन बड़ी इज़ारेदार पूँजी की नुमाइन्दगी करने वाली राज्यसत्ता की एक धनी किसानों-कुलकों के आन्दोलन पर प्रतिक्रिया और मज़दूरों के आन्दोलन पर प्रतिक्रिया में जो फ़र्क़ है, वह एक सच्चाई है** और हर राजनीतिक व्यक्ति जो चाहे कहीं भी खड़ा हो, अपने दिल से यह सवाल पूछे कि यह सच है या नहीं, तो उसे यही जवाब मिलेगा कि यह सच है।

उपरोक्त सभी कारणों से वे वर्ग जिन्होंने अभी सबकुछ खोया नहीं है, और उनके पास खोने को बहुत-कुछ है, ग़ैर-क्रान्तिकारी परिस्थिति में, यानी पूँजीवादी व्यवस्था व समाज में रोज़मर्रा नियमित तौर पर जारी वर्ग संघर्षों में, तात्कालिक तौर पर ज़्यादा बड़ी गोलबन्दियों वाले आन्दोलन कर सकते हैं, तात्कालिक तौर पर ज़्यादा जुझारू और व्यक्तिगत नायकत्व की झलकियाँ दिखाने वाले आन्दोलन कर सकते हैं, तात्कालिक तौर पर ज़्यादा 'स्पेक्टैक्युलर' आन्दोलन कर सकते हैं, पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा भी अपने कारणों से इनके साथ होता है या इनका इस्तेमाल करता है, बुर्जुआ मीडिया का एक हिस्सा भी इन्हें लेकर भावुक रहता है और राज्यसत्ता भी उनके प्रति वैसा दमनकारी रुख़ नहीं अपनाती है जैसा कि वह मज़दूरों के किसी भी बड़े और जुझारू आन्दोलन के प्रति हमेशा अपनाती है।

क्रान्तिकारी परिस्थिति में और फ़ैसलाकुन वर्ग युद्ध में मज़दूर वर्ग अपने क्रान्तिकारी आन्दोलन में गोलबन्दी, संगठन, नेतृत्व और व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों ही प्रकार के नायकत्व की मिसालें देने में किसी भी वर्ग से आगे निकल जाता है और इतिहास इस बात का गवाह है क्योंकि यह वह वर्ग है जिसके पास खोने के लिए कुछ भी नहीं है और पाने को सारी दुनिया है। रोज़मर्रा के आर्थिक संघर्षों में आम तौर पर उसके लड़ने और आन्दोलन के तौर-तरीक़े अलग होते हैं हालाँकि तमाम संसाधनों के अभाव में भी आर्थिक मसलों पर भी हुए कुछ ऐतिहासिक आन्दोलनों में मज़दूर वर्ग ने बहादुरी, क़ुर्बानी, गोलबन्दी और संगठन की ऐसी मिसालें पेश की हैं, जिनका कोई समानान्तर नहीं है।

लुब्बेलुबाब यह कि **मौजूदा किसान आन्दोलन के जनवादी अधिकारों की हिमायत और उसके राजकीय दमन की मुख़ालफ़त करते हुए भी कम्युनिस्टों को उन बुनियादी बातों के बारे में नहीं भूलना चाहिए, जिनकी ओर फ़्रेडरिक एंगेल्स ने चिह्नित किया था। किसी आन्दोलन के वर्ग चरित्र का फ़ैसला उसकी नेतृत्वकारी शक्ति, उसके माँगपत्रक और उन हितों से होता है, जिनकी वह नुमाइन्दगी कर रहा होता है, न कि उसके आकार से।** पराजयबोध का शिकार एक कम्युनिस्ट समुदाय भारत में है, जो हर आन्दोलन से ही अपने कमरे में बैठकर सोशल मीडिया पर आत्म-रोमांचन करता रहता है। सड़क पर कोई भी भीड़ देखकर उसे फुरफुरी और सुरसुरी होती है। बेहतर होता कि यह काम ये कम्युनिस्ट टटपुँजिया रूमानी क्रान्तिकारियों पर छोड़ देते, लेकिन सम्भवत: ये "कम्युनिस्ट" स्वयं वही हैं: टटपुँजिया रूमानी क्रान्तिकारी, जिनकी दर्जनों प्रजातियाँ इस समय हमारे देश के राजनीतिक जगत में पायी जाती हैं जैसे कि नरोदवादी, नव-नरोदवादी, क़ौमवादी, ट्रॉट-बुण्डवादी, लिबरल लेफ़्ट, लेफ़्ट लिबरल, इत्यादि!

ऐसे में, एंगेल्स की उपरोक्त रचना को एक बार फिर से पढ़ लेना इस प्रकार के संक्रमणों के प्रति एक काफ़ी प्रभावी वैक्सीन का काम कर सकता है, और मुझे एंगेल्स के जन्म की द्विशतवार्षिकी से बेहतर और कोई मौक़ा नहीं लगा कि उपरोक्त शानदार रचना की याद दिलायी जाये।

विकृत विकास का क़हर : फेफड़ों में घुलता ज़हर

(पेज 13 से आगे)

पंजाब सबसे आगे है। दूसरे स्थान पर हरियाणा है, लेकिन पश्चिमी उत्तर प्रदेश और तराई में भी यह चलन बढ़ता जा रहा है और अब राजस्थान भी इसकी चपेट में है।

पराली जलाने की समस्या का समाधान होते हुए भी इसे अपनाया क्यों नहीं जाता?

हार्वेस्टर कम्बाइन जब धान की कटाई करता है तो धान का 50-60 सेण्टीमीटर डण्ठल खेत में ही छोड़ देता है, उसे ही पराली कहते हैं। उपरोक्त इलाक़ों के छोटे किसान तो अभी भी स्वयं हाथ से धान काटते हैं या मज़दूर लगाते हैं (कभी-कभार वे भी भाड़े पर हार्वेस्टर से कटाई कराते हैं), लेकिन बड़े किसान मज़दूरी का ख़र्च बचाकर आमदनी बढ़ाने के लिए बड़े पैमाने पर मशीनीकरण का सहारा लेने लगे हैं और हार्वेस्टर कम्बाइन का इस्तेमाल करने लगे हैं। छोटे किसान यदि कम्बाइन का इस्तेमाल करते भी हैं तो ज़्यादातर मामलों में पराली जलाते नहीं। उसे हाथ से काटकर वे पशुओं के चारे, जाड़े में बिछाने या चटाई बनाने आदि में इस्तेमाल करते हैं।

पराली जलाने की अतिगम्भीर समस्या के कई तकनीकी समाधान आज मौजूद हैं। पराली के निस्तारण का पहला विकल्प यह है कि हार्वेस्टर कम्बाइन के साथ एक से डेढ़ लाख रुपये क़ीमत की 'सुपर स्ट्रॉ मैनेजमेण्ट सिस्टम', (एस.एस.एम.एस.) नामक मशीन जोड़ दी जाये। यह मशीन पराली के ऊपरी भाग को काटकर मिट्टी में मिला देती है। जड़ें (टूँड़ी) ज़मीन में रह जाती हैं, जिसके रहते टी.एच.एस.मशीन (टर्बो हैप्पी सीडर) से गेहूँ की बुवाई की जा सकती है। सवा लाख क़ीमत की यह मशीन 50 हॉर्सपावर के ट्रैक्टर से जोड़कर चलायी जाती है। दूसरा विकल्प पराली को चॉपर से काटकर मिट्टी में मिलाकर टी.एच.एस. मशीन से गेहूँ की बुवाई करना है। चॉपर डेढ़ लाख रुपये का आता है और 50 हॉर्सपावर के ट्रैक्टर से चलता है। तीसरा विकल्प प्लाउर (ढाई लाख रुपये क़ीमत, 1200 रुपये प्रति एकड़ किराया) से पराली को मिट्टी में मिला देना है। चौथा विकल्प रोटावेटर का इस्तेमाल है, जिस मशीन की क़ीमत तो 20 लाख से अधिक होती है, पर किराये पर इस्तेमाल करने पर एक राउण्ड का डीज़ल ख़र्च 6-7 सौ रुपये पड़ता है। पाँचवाँ विकल्प बेलर का इस्तेमाल करके पराली को काटकर गाँठ बनाकर एक जगह रख देना है। फिर टी.एच.एस. से बुवाई की जा सकती है। बेलर की क़ीमत 2 से 10 लाख होती है और किराया 1300 रुपये प्रति एकड़ के आसपास। कटी हुई पराली को छोटे किसानों को पशुओं के चारे के लिए बेचा जा सकता है या थर्मल पावर हाउस तक पहुँचाया जा सकता है। पराली से इथेनॉल और कार्डबोर्ड का भी उत्पादन किया जा सकता है।

तब सवाल यह उठता है कि इतने समाधानों के मौजूद रहते देश पराली जलाने से पैदा हुई जानलेवा समस्या का सामना क्यों कर रहा है? इसका उत्तर है, सरकार की वर्गीय पक्षधरता और सरकारी तंत्र में व्याप्त दुर्व्यवस्था। किसानों को मशीनरी पर 40 प्रतिशत सब्सिडी देने के लिए पंजाब सरकार ने 2017 में केन्द्र को 1,109 करोड़ रुपये का प्रस्ताव भेजा था, लेकिन उसे सिर्फ़ 48 करोड़ मिले। इसमें से भी राज्य सरकार के वित्त विभाग ने सिर्फ़ 30 करोड़ सरकारी ख़ज़ाने से निकालने की मंज़ूरी दी और यह रकम भी किसानों के पास तब पहुँची जब गेहूँ की बुवाई शुरू हो चुकी थी। दूसरी बात, एस.एस.एम.एस. मशीन और टी.एच.एस. मशीनें जो सबसे उपयोगी हैं, उन्हें बनाने वाले कम हैं और ये मशीनें महँगी हैं। तीसरी बात, किसानों के सब्सिडी बिल्स पेण्डिंग पड़े रहते हैं। चौथी बात, सरकार बड़े किसानों पर सख़्ती करने से कतराती है। राष्ट्रीय हरित न्यायाधिकरण के निर्देश पर पंजाब सरकार ने पहले पराली जलाने वाले किसानों पर प्राथमिकी दर्ज करना शुरू किया। फिर इसे रोक दिया गया। फिर पंजाब प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड सिर्फ़ चालान काटने लगा। पाँचवी बात, पंजाब में धान कुल 30 लाख हेक्टेयर में बोया जाता है जबकि उपलब्ध मशीनरी सिर्फ़ 2 लाख हेक्टेयर का प्रबन्धन कर सकती है।

लेकिन इन सबमें प्रमुख कारण सरकार और प्रमुख चुनावी पार्टियों की वर्गीय पक्षधरता का है। पंजाब की कुल आबादी में सिर्फ़ 18 प्रतिशत किसान रह गये हैं। इस किसान आबादी में से 67 प्रतिशत छोटे किसान हैं। शेष मुट्ठीभर जो धनी किसान हैं, उन्हीं के पास खेती की ज़मीन का 90 प्रतिशत के आसपास है और वही पराली जलाते हैं। छोटे किसान पराली नहीं जलाते हैं। अदूरदर्शी मुनाफ़ाख़ोर बड़े किसान यह नहीं सोच पाते कि पराली जलाने से खेत की मिट्टी से पोषक जैविक तत्वों का भारी विनाश होता है और रासायनिक उर्वरकों-कीटनाशकों पर उनकी निर्भरता बढ़ती जाती है। वे सिर्फ़ तात्कालिक बचत और मुनाफ़े के बारे में सोचते हैं। इन धनी किसानों को कोई भी सरकार नाराज़ नहीं करना चाहती, चाहे वो कांग्रेस की हो या अकाली दल-भाजपा की। पराली के निस्तारण में, अलग-अलग विकल्पों के इस्तेमाल के हिसाब से प्रति एकड़ 5 सौ रुपये से 2,000 रुपये तक का ख़र्च आता है। प्रति एकड़ 50 से 60 हज़ार रुपये की आमदनी करने वाला धनी किसान चाहे तो ऐसा आसानी से कर सकता है, लेकिन वह नहीं करता क्योंकि सरकार और प्रशासन उसके प्रति नरमी का रुख़ अपनाते हैं।

कुल मिलाकर, यही कहा जा सकता है कि वायु प्रदूषण की समस्या पूँजीवादी समाज व्यवस्था की अन्तर्निहित अराजकता, समृद्धिशाली वर्गों की निकृष्ट स्वार्थपरता और विलासिता तथा पूँजीवादी समाज में सरकारों की वर्गीय पक्षधरता का परिणाम है। जन समुदाय यदि जागरूक होकर और संगठित होकर दबाव बनाये, तभी सत्तातंत्र को इस समस्या से राहत दिलाने के लिए कुछ सार्थक क़दम उठाने को बाध्य किया जा सकता है। और इस समस्या का अन्तिम और निर्णायक समाधान तभी हो सकता है जब लोभ-लाभ और स्वार्थपरता की जननी पूँजीवादी व्यवस्था का जन समुदाय द्वारा शवदाह कर दिया जाये।

हमारा आन्दोलन दबाया नहीं जा सकता

मरीया प्रिलेज़ायेवा की पुस्तक 'लेनिन कथा से'

...मण्डली की बैठक नेवा पार के इलाक़े में मैकेनिकल फ़ैक्टरी के फ़िटर इवान बाबुश्किन के घर में हो रही थी। नेवा के पार बहुत-से कारख़ाने और फ़ैक्टरियाँ थीं। सुबह अभी झुटपुटा ही होता था कि उनके भोंप गूँजने लगते। मज़दूर मुँह अँधेरे ही काम के लिए चल पड़ते और रात होने पर घर लौटते। सूरज कभी देखने को न मिलता। कितना अन्धकारपूर्ण जीवन था! पर हमेशा तो ऐसे नहीं रहा जा सकता था!

मज़दूर पुलिस से छिपकर फ़िटर बाबुश्किन के घर में इकट्ठा होते और अपनी स्थिति पर विचार करते।

इस शाम वे वहाँ बैठे निकोलाई पेत्रेविच की प्रतीक्षा कर रहे थे, जिन्हें उनके सामने भाषण करना था। निकोलाई पेत्रेविच और कोई नहीं, स्वयं व्लादीमिर इल्यीच ही थे।

मगर वह मज़दूर मण्डली में क्योंकर आये?

इसलिए कि वह मज़दूरों को मार्क्स के विचारों व सिद्धान्तों के बारे में बताना चाहते थे। मार्क्स ने कहा था: मज़दूर ही वह शक्ति हैं, जो समाज का पुनर्निर्माण करने में समर्थ है। अगर मज़दूर चाहेंगे और फ़ैक्टरी मालिकों और ज़ार के विरुद्ध खड़े हो सकेंगे, तो कोई भी उन्हें नहीं झुका सकता। इसका मतलब है कि मज़दूरों को संगठित करना है, लक्ष्य तय करना है और उसकी ओर बढ़ना है। मज़दूरों का लक्ष्य एक ही हो सकता है। वह है सत्ता अपने हाथों में लेना, मेहनतकशों का राज्य स्थापित करना।

यह सबसे शानदार राज्य होगा, जिसमें सारा समाज न्याय पर आधारित होगा। और मार्क्स ने इसे कम्युनिस्ट समाज कहा था।

पहली पुस्तक

उस समय पीटर्सबर्ग में नेवा पार की इवान बाबुश्किन की मण्डली के अलावा मज़दूरों की दूसरी भी कई मार्क्सवादी मण्डलियाँ थीं। पीटर्सबर्ग आने के पीछे व्लादीमिर इल्यीच का मुख्य उद्देश्य क्रान्तिकारी-मार्क्सवादियों के साथ सम्पर्क स्थापित करना था।

साथियो, व्लादीमिर इल्यीच ने कहा, हमें मार्क्स के विचारों का सभी मज़दूरों के बीच प्रचार करना है। हमें मज़दूरों के साथ एकबद्ध होना है, और क्रान्ति की तैयारी करनी है।

इस तरह क्रान्तिकारी संघ की स्थापना हुई, जिसे बाद में 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करने वाली लीग' कहा जाने लगा। पहले 'संघर्ष लीग' केवल पीटर्सबर्ग में ही थी, बाद में उसे दूसरे शहरों में भी स्थापित किया गया।

किन्तु व्लादीमिर इल्यीच का काम इन मण्डलियों का नेतृत्व करना ही नहीं था। दिन में, शाम को और यहाँ तक कि कभी-कभी रात गये भी वह लिखते रहते थे। वह जो किताब लिख रहे थे, वह पूँजीपतियों के लिए बेहद ख़तरनाक थी। वह मज़दूरों को बताती थी कि पूँजी की सत्ता के ख़िलाफ़ सही और संगठित ढंग से संघर्ष कैसे किया जाये।

शीघ्र ही व्लादीमिर इल्यीच की पुस्तक पूरी हो जायेगी और मार्क्सवादी साथी उसे गुप्त रूप से छापकर मज़दूर मण्डलियों के बीच बाँट देंगे।

रात काफ़ी हो गयी थी। सामने के घर की बत्तियाँ बुझ चुकी थीं। व्लादीमिर इल्यीच ने कलम रखी और खड़े होकर तीन डग भरे। कमरा छोटा-सा ही था, पर उन्हें चहलकदमी करना पसन्द था।

रास्ता एक ही है। रूसी मज़दूर विजयी कम्युनिस्ट क्रान्ति की ओर ले जाने वाले खुले राजनीतिक संघर्ष के इस सीधे रास्ते से चलेंगे, यही वह इस समय सोच रहे थे और यही उन्होंने पुस्तक में भी लिखा था। उनकी पुस्तक रूसी मज़दूरों को विजयी कम्युनिस्ट क्रान्ति के लिए आह्वान करती थी। अभी तक कभी किसी ने रूसी मज़दूरों का ऐसा साहसिक आह्वान नहीं किया था।

उस समय व्लादीमिर इल्यीच की अवस्था सिर्फ़ चौबीस साल की थी! वह अभी बिल्कुल युवा थे। मगर जानते बहुत थे और उनका दृढ़ विश्वास था कि रूसी मज़दूर क्रान्ति करके रहेंगे।

चार परचे

पुलिस घर-घर जाकर विद्रोह करने वालों को पकड़ रही थी और हाथ पीठ के पीछे बाँधकर थाने ले जा रही थी।

"मालिक का गोदाम तोड़ा था? तोड़ा था। चलो जेल में।"

"मैनेजर के दफ़्तर को आग लगायी थी? चलो जेल में।"

बाबुश्किन प्रतीक्षा कर रहा था कि जल्दी ही उसकी भी बारी आयेगी।

रात गये किसी के एक ख़ास ढंग से दरवाज़ा खटखटाने की आवाज़ आयी।

यह व्लादीमिर इल्यीच थे। पाले से आपाद-मस्तक सफ़ेद। यहाँ तक कि भौंहों पर भी बर्फ़ की धूल जम गयी थी। ओवरकोट उतारकर ठण्ड से जमे हाथों को मलते हुए और साथ ही कमरे में चहलकदमी करते हुए वह पूछने लगे:

"हाँ, तो बताइये, कैसे शुरू हुआ? मज़दूरों को क्या भुगतना पड़ा?"

बाबुश्किन व्लादीमिर इल्यीच के सामने अपना सारा दिल उँड़ेलकर रख देना चाहते थे। कल कारख़ाने में हुए विद्रोह, गोदाम के तोड़े जाने और मैनेजर के दफ़्तर को आग लगाये जाने की याद स्मृति में अभी ताज़ा थी। गोदाम तोड़ने और दफ़्तर को आग लगाने के लिए ही तो आज पुलिस मज़दूरों को गिरफ़्तार कर रही थी।

"नहीं, चेतनाशील मज़दूरों का संघर्ष दंगे-उत्पातों के ज़रिये नहीं चलाना चाहिए," व्लादीमिर इल्यीच ने कहा। "इस बारे में परचा निकालना होगा।"

और दोनों मेज़ के पास बैठ गये और दबी आवाज़ में विचार-विमर्श करने लगे कि परचे में क्या लिखना है, कि संघर्ष की घड़ी आ गयी है और ख़ुद अपने अलावा और कोई मज़दूरों को इस ग़ुलामी से मुक्ति नहीं दिलायेगा। मगर संघर्ष दंगे-फ़सादों के ज़रिये नहीं, बल्कि संगठित तरीक़े से करना है।

रात काफ़ी हो गयी थी। बाबुश्किन की नज़र लेनिन की तेज़ी से चलती कलम पर टिकी हुई थी। अचानक सिर झुककर मेज़ से टकराते-टकराते बच गया:

"नहीं, कोई बात नहीं। बस यूँ ही!"

"यूँ ही ऊँघने लगे थे," व्लादीमिर इल्यीच हँस पड़े। "बेहतर होगा कि सो जाइए। सुबह भोर में काम पर जाना होगा।"

बाबुश्किन ने कुछ नहीं कहा और सो गये। व्लादीमिर इल्यीच परचे की नक़ल करने लगे। नक़ल साफ़-साफ़ और बड़े अक्षरों में करनी थी, ताकि मज़दूर आसानी से पढ़ सकें। एक के बाद एक करके उन्होंने चार परचे लिख डाले।

तभी अचानक फ़ैक्टरी का भोंपू बजने लगा, जिसकी आवाज़ सारे आकाश, सारी बस्ती में गूँजती हुई बाबुश्किन के घर की बर्फ़ से ढँकी खिड़की से भी टकरायी।

नेवा पार की सारी बस्ती जग गयी।

"बाबुश्किन, उठने का समय हो गया है," व्लादीमिर इल्यीच ने जगाते हुए कहा।

बाबुश्किन चौंककर बैठ गये और आँखें मलने लगे कि कहीं व्लादीमिर इल्यीच को सपने में तो नहीं देख रहे हैं। मगर फिर मेज़ पर पड़े चार परचों पर नज़र पड़ी, तो रात की सब बातें याद हो आयीं।

"इन्हें मज़दूरों के बीच बाँटना है," व्लादीमिर इल्यीच ने कहा। "अफ़सोस है कि और नहीं लिख सका।"

वे घर से निकल पड़े। आकाश में धूमिल, नीले तारे अभी भी टिमटिमा रहे थे। चिमनियों से धुएँ के सफ़ेद बादल उठ रहे थे। सड़क पर मज़दूरों की काली छायाएँ दौड़ रही थीं। व्लादीमिर इल्यीच और बाबुश्किन जाकर उनके बीच खो गये।

बाबुश्किन ने जेब से परचे निकाले और चुपके से जान-पहचान के मज़दूरों को दे दिये। वे पढ़ने के बाद दूसरे मज़दूरों को दे देंगे।

"हमारा पहला आन्दोलन-परचा है। सफलता की कामना करता हूँ, बाबुश्किन, " व्लादीमिर इल्यीच ने कहा।

हमारा आन्दोलन दबाया नहीं जा सकता

8 दिसम्बर, 1895 को नदेज़्दा क्रूप्स्काया के घर में 'संघर्ष लीग' की बैठक थी। लीग ने ग़ैरक़ानूनी अख़बार 'रबोचेये देलो' (मज़दूर ध्येय) निकालने का फ़ैसला किया था। बैठक में पहले अंक के लिए एकत्र सामग्री पर विचार होना था। सभी मुख्य लेख, जोशीले और निर्भीक लेख, व्लादीमिर इल्यीच ने लिखे थे।

यह तय किया गया कि अख़बार को किसी गुप्त छापाख़ाने में छापा जाये। फ़िनलैण्ड की खाड़ी के तट पर, पीटर्सबर्ग के बाह्यांचल में एक ऐसा छापाख़ाना था।

सारी सामग्री अनातोली वानेयेव को दे दी गयी। यह 23 वर्षीय विद्यार्थी तनमन से क्रान्तिकारी कार्य को अर्पित था। व्लादीमिर इल्यीच सबसे उत्तरदायित्वपूर्ण काम उसी को सौंपा करते थे। कल वानेयेव लेखों को छापाख़ाने में ले जायेगा और शीघ्र ही मज़दूरों के हाथों में उनका पहला अख़बार होगा।

बैठक काफ़ी देर से ख़त्म हुई। सभी अपने-अपने घरों को चल दिये।

व्लादीमिर इल्यीच वहीं बैठे रहे। वह नदेज़्दा कोन्स्तान्तिनोव्ना के साथ बातें कर रहे थे। मगर बातें थीं कि ख़त्म ही नहीं होती थीं। साथियों की चर्चा चलती, तो व्लादीमिर इल्यीच हर किसी में कोई न कोई विशेषता खोज लेते और उसकी तारीफ़ के पुल बाँध देते। वह लोगों से प्यार करते थे। चर्चा मज़दूरों की भी चली। कैसी उनमें ज्ञान-पिपासा है! बाबुश्किन को ही लें। कितने योग्य और प्रतिभावान हैं---

"अच्छा, नाद्या, अब चलूँगा," व्लादीमिर इल्यीच ने आख़िरकार कहा। "कल फिर आऊँगा।"

सड़कें सुनसान थीं। इक्की-दुक्की बत्तियाँ ही जल रही थीं। उनके धूमिल उजाले में भी तारे साफ़-साफ़ दिखाई दे रहे थे। व्लादीमिर इल्यीच घोड़ाट्राम में पब्लिक लाइब्रेरी तक पहुँचे। यहाँ भी नीरवता थी। वह अकेले थे। बर्फ़ के बोझ से अलेक्सान्द्रिन्स्की पार्क के लिण्डन वृक्षों की टहनियाँ झुक गयी थीं। तभी कोई टहनी टूटी और उससे सूखी बर्फ़ हवा में बिखर गयी। व्लादीमिर इल्यीच इस समय अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में थे।

कुछ समय पहले उन्होंने गोरोख़ोवाया सड़क पर एक मकान में कमरा किराये पर लिया था। भेदिये प्रायः उनका पीछा करते थे, इसलिए सावधानी के लिए प्रायः पता बदलते रहना पड़ता था।

घर पहुँचने पर वह दबे पाँव अपने कमरे में घुसे, ताकि मालकिन जाग न जाये। अभी सोने की इच्छा नहीं थी। सोचा कि क्यों न कुछ पढ़ लिया जाये। व्लादीमिर इल्यीच ने अपनी अगली किताब के लिए सामग्री चुनी और पढ़ाई में इतना डूब गये कि समय का भी ख़याल न रहा। घड़ी पर देखा, तो दो बजने वाले थे।

"अब सोना चाहिए," उन्होंने मन ही मन कहा, पर फिर पढ़ने में मशगूल हो गये।

दो बजे किसी ने घण्टी बजायी।

व्लादीमिर इल्यीच एकाएक कुछ समझ न पाये और आश्चर्य के मारे कान लगाकर सुनने लगे।

सबसे पहले दरबान घुसा, जो चमड़े का कोट और एप्रन पहले था। उसके पीछे-पीछे बिना कोई आवाज़ किये सिविल वर्दी में दो आदमी व्लादीमिर इल्यीच के कमरे में दाख़िल हुए। उनके पीछे पुलिस का अफ़सर था।

"गिरफ़्तारी का वारण्ट है।"

सिविल वर्दी वाले आदमी कमरे की तलाशी लेने लगे। किताबों को उलटा-पलटा, बिस्तर उठाकर देखा, अँगीठी और अँगीठी की चिमनी में झाँका।

व्लादीमिर इल्यीच बिना कुछ कहे दीवार के पास खड़े रहे।

वह अपने साथियों के बारे में सोच रहे थे। वे कहाँ हैं? गिरफ़्तार वह अकेले हुए हैं या साथी भी? और नाद्या? क्या हमारा आन्दोलन ख़त्म हो गया है? "नहीं, अब हमें ख़त्म नहीं कर सकते," व्लादीमिर इल्यीच ने सोचा। "हमारा आन्दोलन दबाया नहीं जा सकता! हम नहीं होंगे, तो दूसरे सैकड़ों-हज़ारों मज़दूर उठ खड़े होंगे, रूस का सारा मज़दूर तबक़ा उठ खड़ा होगा!"

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

भारत में कोरोना की दूसरी लहर, टीकाकरण के हवाई किले और मोदी सरकार की शगूफ़ेबाज़ी

– मीनाक्षी

आज भारत भी कोरोना की दूसरी लहर के चपेट में है और इस बार भी बिना कोई पुख़्ता इन्तज़ाम किये आंशिक या पूर्ण लॉकडाउन लगाये जाने की क़वायदें शुरू हो गयी हैं। हालाँकि सरकार इस बात से क़तई अनजान नहीं रही है कि इस दूसरी लहर की सम्भावना थी। इस मामले में एक तो दुनिया के अन्य देशों के उदाहरण सामने थे, जहाँ संक्रमण घटने के बाद एकाएक दुबारा तेज़ी से फैला था। अमेरिका में भी कोरोना से संक्रमित लोगों की संख्या शीर्ष पर पहुँचने के बाद उसमें कमी आने लगी थी, पर कुछ समय बाद ही वहाँ फिर से रोज़ 80 हज़ार से ऊपर मामले आने लगे। इंग्लैण्ड व फ़्रांस में भी दूसरी लहर पहले से भी अधिक तेज़ी के साथ आयी थी। कुछ और देशों में भी कोरोना का यही व्यवहार देखा गया। परन्तु देश का प्रधानमंत्री इस संकट से पहले की ही तरह बेख़बर रहा। पहली लहर के समय भी यह प्रधानसेवक शुतुरमुर्ग़ की तरह रेत में सिर धँसाये पड़ा रहा और ग़ुबार के उड़ जाने का इन्तज़ार करता रहा।

बात सिर्फ़ यही नहीं है कि कई देशों में कोरोना के दुबारा बढ़ने के आँकड़े सामने आ चुके थे, ख़ुद भारत में ही स्वास्थ्य महकमे से जुड़े लोगों ने भी इस प्रकार का अन्देशा पहले ही जता दिया था। अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) के निदेशक सन्दीप गुलेरिया ने मई में ही यह चेतावनी दे दी थी कि कोरोना की दूसरी लहर आ

सकती है। इन सबके बाद भी हमारे प्रधानसेवक, जो अपनी छवि चमकाने और अपने काग़ज़ी कामों का ढिंढ़ोरा पीटने में करोड़ों-करोड़ रुपये पानी की तरह बहा देते हैं, ने न तो लोगों को इस ख़तरे से पहले ही आगाह करने की ज़रूरत समझी और न ही उनकी सुरक्षा के लिए वास्तव में कोई ठोस क़दम उठाने के बारे में कुछ सोचा। उल्टे भाजपाई स्वास्थ्य मंत्री हर्षवर्धन ने कोरोना फैलने की वजह मास्क पहनने और दूरी बनाये रखने में लापरवाही बरतना बताया और इसके लिए आम लोगों को ही ज़िम्मेदार ठहरा दिया। जैसेकि आम लोग दूरी बनाये रखना ही नहीं चाहते, मानो छ: फीट दूरी के नियम का पालन करना इनके लिए मुमकिन रहा हो। यह सरकार ही अगर कारख़ानों और खेतों के मालिकों को काम की जगहों पर मज़दूरों के लिए मास्क और छ: फीट दूरी रखने के लिए क़ानून बाध्य नहीं कर सकती, न मानने वालों पर दण्डनीय अपराध की धारा नहीं लगा सकती, तो देश की बहुसंख्यक आबादी के लिए भला छ: फ़ीट की दूरी बनाये रखना कैसे मुमकिन हो सकता था। यह आबादी वही आबादी है, जो रोज़ी रोटी कमाने की ख़ातिर कारख़ानों में हाड़ गलाती है, पटरी पर ठेला-रेहड़ी लगाती है, खेतों में मज़दूरी करती है, सड़कों पर रिक्शा खींचती है। ज़ाहिर है कि ऐसी निकम्मी सरकार के पास इससे बेहतर तरीक़ा क्या हो सकता है कि वह अपनी नाकामियों का ठीकरा जनता के सिर फोड़े। एक दूसरा बेहतर और कामयाब तरीक़ा यह भी था कि ऐसे मौक़ों पर ख़ुद मोदी जी ही जनता को बरगलाने के लिए अपनी लच्छेदार भाषा और सन्तई हुलिये के साथ अवतरित होते रहें। और यही हुआ भी। यह भूलना नहीं चाहिए कि संक्रमण के पहले दौर में भी मोदी ने शुरू से ही लोगों को धोखे में रखा था, कोरोना से लड़ाई की तुलना महाभारत के युद्ध से की थी और 21 दिनों तक चले महाभारत युद्ध की तरह कोरोना की अवधि भी 21 दिन तक ही सीमित रहने की किसी नजूमी की तरह भविष्यवाणी भी की थी। साफ़ है, 'महात्मा' मोदी के पास कोरोना से निपटने की कोई योजना नहीं थी, सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस पाखण्डी सरकार ने इसकी कोई ज़रूरत ही नहीं समझी। लिहाज़ा बिना किसी तैयारी के आनन-फ़ानन में लॉकडाउन लगा दिया गया। नतीजा सामने था। पीपीई किट और सुरक्षात्मक उपाय के बिना बहुतेरे डाक्टर और स्वास्थ्यकर्मी मौत के जबड़ों में समा रहे थे, सड़कों पर मज़दूर जान गँवा रहे थे, नौकरीपेशा नौजवान रोज़गार खो रहे थे, एक बड़ी आबादी को खाने के लाले पड़े हुए थे। लेकिन उस पूरे दरमियान सरकार निहायत बेशर्मी के साथ हाथ पर हाथ धरे बैठी रही। मोदी की बसिया भात जैसी बेस्वाद 'मन की बात' और थोथी बयानबाज़ियों का सिलसिला चलता रहा।

इस महामारी के सामने मोदी सरकार ने भले ही आम मेहनतकश जनता को निहत्था छोड़ दिया हो पर आपदा को अवसर में बदलने के एजेण्डे पर वह लगातार काम करती रही। अपने पूँजीपति यारों के क़र्ज़े माफ़ किये, सरकारी सेक्टरों को निजी मालिकों के हाथों बेचा, मज़दूर-विरोधी श्रम क़ानून पारित किये, विपक्षी सरकारों को गिराने का काम किया, अपने फ़ासीवादी एजेण्डे के विरोधियों को जेल में ठूँसा। यह फ़ेहरिस्त लम्बी है।

संक्रमण के इस दूसरे दौर में भी, जबकि संक्रमण तेज़ी से अपने पाँव पसार रहा है और ख़ुद सरकारी आँकड़ों के अनुसार लगभग चालीस हज़ार से ज़्यादा लोग रोज़ संक्रमित हो रहे हैं, सरकार के पास पहले दौर की ही तरह कोई ठोस योजना नहीं है। अकेले दिल्ली में ही रोज़ लगभग पाँच हज़ार मामले सामने आ रहे हैं। उत्तर प्रदेश सहित आठ राज्यों में संक्रमण की रफ़्तार तेज़ी से बढ़ी है। लखनऊ में यह 31 प्रतिशत बढ़ चुका है जबकि ठीक होने की दर में (रिकवरी रेट) 33 प्रतिशत की कमी आयी है। पर सरकार है कि पुराने मोड में चल रही है यानी वही कोरी बयानबाज़ी, आपदा को अवसर में बदलने की वही उठापटक और ऐसा अवसर ढूँढ़ते रहने

(पेज 10 पर जारी)

महामारी के दौर में भी चन्द अरबपतियों की दौलत में भारी उछाल!

या इलाही ये माज़रा क्या है?

– आनन्द सिंह

इस साल कोरोना महामारी के बाद भारत सहित दुनिया के तमाम देशों में लम्बे समय तक आंशिक या पूर्ण लॉकडाउन लगाया गया जिसकी वजह से दुनिया भर में उत्पादन की मशीनरी ठप हो गयी और विश्व पूँजीवाद का संकट और गहरा गया। लेकिन हाल ही में कुछ संस्थाओं की ओर से जारी किये गये आँकड़े यह दिखा रहे हैं कि महामारी के दौर में भारत और दुनिया के कई अरबपतियों की सम्पत्ति में ज़बर्दस्त इज़ाफ़ा हुआ है। ये आँकड़े यह साबित करते हैं कि इन अरबपतियों ने गिद्ध की भाँति आपदा में भी अवसर खोज लिया है जिसकी इजाज़त मौजूदा व्यवस्था ही देती है। इन विडम्बनापूर्ण आँकड़ों की सतही व्याख्या करते हुए बहुत-से लोग इस हास्यास्पद षड्यंत्र सिद्धान्त को सही मानने लगे हैं कि दरअसल पूँजीपति वर्ग ने मुनाफ़ा कमाने के लिए साज़िश के तहत लॉकडाउन लगाया था। कुछ लोग तो कोरोना को ही साज़िश करार दे रहे हैं। ऐसे में वैज्ञानिक नज़रिये से इस परिस्थिति को समझना बेहद ज़रूरी हो जाता है।

मज़दूर वर्ग के महान शिक्षक कार्ल मार्क्स ने दिखाया था कि पूँजीवादी व्यवस्था की नैसर्गिक गति के फलस्वरूप समाज दो ध्रुवों में बँट जाता है। एक ध्रुव पर धन-दौलत और ऐश्वर्य का अम्बार इकट्ठा होता जाता है और दूसरे ध्रुव पर ग़रीबी, कंगाली और दु:खों तथा तकलीफ़ों का महासागर बनता जाता है। इसी वजह से दुनिया में हर साल एक ओर अरबपतियों-खरबपतियों की सम्पदा में लगातार इज़ाफ़ा होता जाता है और दूसरी ओर ग़रीबों की तकलीफ़ें बढ़ती जाती हैं। इस प्रक्रिया में मज़दूर तो तबाह होते ही हैं, साथ ही बड़ी संख्या में छोटे उत्पादक व पूँजीपति भी बर्बाद होते जाते हैं और उनकी क़ीमत पर चन्द बड़े पूँजीपतियों की समृद्धि की मीनारें ऊँची होती जाती हैं। लेकिन इस व्यवस्था के सुचारु रूप से चलने के लिए यह ज़रूरी होता है कि समाज में उत्पादन की प्रक्रिया निर्बाध रूप से चलती रहे। फिर ऐसा कैसे हुआ कि उत्पादन की प्रक्रिया बाधित होने पर भी कुछ पूँजीपतियों की दौलत इस क़दर बढ़ गयी?

हाल ही में प्रकाशित हुई 'बिलिनेयर्स इनसाइट रिपोर्ट 2020' यह दिखाती है

इस साल जब देश की जनता भूख, बीमारी और बेकारी से जूझ रही है, तब मोदी सरकार की कृपा से अडाणी रोज़ 450 करोड़ रुपये और अम्बानी रोज़ 375 करोड़ रुपये का मुनाफ़ा पीट रहा है!

कि इस साल अप्रैल व जुलाई के बीच भारत के अरबपतियों की कुल सम्पदा में 35 फ़ीसदी का इज़ाफ़ा हुआ है। इससे पहले फ़ोर्ब्स की 'इण्डिया रिच लिस्ट 2020' में यह तथ्य सामने आया था कि भारत के सबसे बड़े धनपशु मुकेश अम्बानी की कुल सम्पदा में इस साल पिछले साल के मुक़ाबले 73 फ़ीसदी की बढ़ोतरी हुई। मोदी के दूसरे सरपरस्त, गौतम अडाणी की पूँजी तो इस साल और तेज़ी से बढ़ी। ब्लूमबर्ग बिलिनेयर इण्डेक्स के अनुसार, इस साल के पहले साढ़े दस महीनों में ही अडाणी की पूँजी में 19.1 बिलियन डॉलर, यानी क़रीब 1.40 लाख करोड़ रुपये की छलाँग लगी है जो कि अम्बानी की इस साल अब तक की कमाई 16.4 बिलियन डॉलर, यानी लगभग 1.20 लाख करोड़ रुपये से भी ज़्यादा है।

इसी तरह एचसीएल के संस्थापक शिव नादर और सीरम इंस्टीट्यूट ऑफ़ इण्डिया के साइरस पूनावाला, बायोकॉम की चेयरमैन व मैनेजिंग डायरेक्टर किरन मज़ूमदार शॉ जैसे अरबपतियों की सम्पत्ति में भी कोरोना काल में भारी बढ़ोतरी देखने को मिली। ऐसे रुझान दुनिया के कई अन्य देशों में भी देखने को आ रहे हैं। विश्व पूँजीवाद के सिरमौर अमेरिका में भी एमेज़ॉन के प्रमुख ज़ेफ़ बेजोस, फ़ेसबुक के संस्थापक मार्क ज़करबर्ग, गूगल के संस्थापकों सर्गेई ब्रिन और लैरी पेज, माइक्रोसॉफ़्ट के पूर्व सीईओ स्टीव बालमर और टेस्ला के एलन मस्क की सम्पत्ति में कोरोना काल के दौरान हुए भारी इज़ाफ़े के तथ्य प्रकाशित हुए हैं।

सवाल यह उठता है कि जब कोरोना काल में उत्पादन बुरी तरह प्रभावित हुआ है और दुनिया के अधिकांश देशों की अर्थव्यवस्थाएँ भयंकर मन्दी के दौर से गुज़र रही हैं, ऐसे में इन धनपशुओं की सम्पदा में हो रही बढ़ोतरी का राज़ क्या है। इस राज़ को समझने के लिए सबसे पहले यह समझना ज़रूरी है कि वित्तीय पूँजी के जिस युग में हम रह रहे हैं उसमें कम्पनियों और व्यक्तियों की कुल सम्पदा काफ़ी हद तक सट्टा बाज़ार में उनके शेयर की क़ीमतों से तय होती है। ऐसे में उत्पादन में कमी होने के बावजूद अगर शेयर बाज़ार गर्म है और कम्पनियों के शेयर उछाल पर हैं तो कम्पनियों व शेयरहोल्डरों की सम्पदा में वृद्धि दिखायी देगी जो निश्चित रूप से अर्थव्यवस्था की अच्छी सेहत का परिचायक नहीं है। ग़ौरतलब है कि उत्पादन के ठप होने व अर्थव्यवस्था में भारी मन्दी के बावजूद सट्टा बाज़ार में उछाल आ सकता है बल्कि अक्सर ऐसा होता भी है क्योंकि वास्तविक अर्थव्यवस्था में मन्दी की वजह से लाभप्रद निवेश के अवसर न होने की सूरत में सट्टा बाज़ार में निवेश करना सुगम होता है।

इसके अतिरिक्त सरकार व केन्द्रीय बैंक की नीतियाँ भी सट्टा बाज़ार में उछाल पैदा करने के लिए ज़िम्मेदार होती हैं। मिसाल के लिए अमेरिका में कोरोना काल में आर्थिक संकट से निपटने के लिए अमेरिका के फ़ेडरल

(पेज 2 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006